वर्ष ५
पूर्णाङ्क ५०

गुरुकुल-पत्रिका

सितम्बर
१९५२

व्यवस्थापक
श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति
मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी।

सम्पादक
श्री सुखदेव दर्शनवाचस्पति
श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार।

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक पत्रिका]

पाप किस से डरता है

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये ।
यो नमसा स्वध्वरः । ऋक् ८-१९-५
तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः ।
न तमं हो देवकृतं न मर्त्यकृतं नशत् ॥ ऋक् ८-१९-६ ।

ऋषिः | काण्वः सोभरिः । देवता अग्निः ।

भाव—जिस वंश के लोग, कण-कण कर के सञ्चय करने वाले होते हैं, और पग पग कर के प्रगति करते हैं, अर्थात् अपने उद्देश्य की प्राप्ति में एक-निष्ठ हैं, और उसे प्राप्त किए बिना धैर्य नहीं छोड़ते। लेकिन वे लोग यह सञ्चय या प्रगति लोभ और स्वार्थ से नहीं करते, अपितु दूसरों के भरण पोषण के लिए आते हैं—ऐसे कुल में जिसका जन्म हुआ है। और इस के बाद तप के द्वारा जिस ने अपने आपे (अहं) का हनन कर दिया है, और दूसरों के भरण पोषण में अपनी सम्पत्ति को समाप्त कर के जो पूर्णतया सरल बन गया है।

ऐसा जो व्यक्ति अपने राष्ट्र या समाज के लिए, अपने नेता को ज्ञान, बलिदान या धन और अन्न का नम्रता-पूर्वक दान करता है। अथवा स्थूल रूप में यज्ञ करता है—समिधा द्वारा अग्नि को प्रज्वलित कर के वेद-मन्त्रों सहित, विनयभाव से आहुति देता है।

उस मनुष्य की इन्द्रियां अपने विषयरूप प्रलोभनों का संहार कर देती हैं, सदा कर्मरत रहती हैं, तथा दूसरों को प्रेरणा देती हैं, मार्ग प्रदर्शन करती हैं। उसे उज्ज्वल यश, धन और अन्न मिलता है उसे अपने और अनुगामियों के लिए कभी धन व अन्न की कमी नहीं रहती।

उसे देवताओं या मनुष्यों द्वारा किया हुवा कोई भी पाप नहीं लगता। क्योंकि वह कोई काम स्वार्थ के लिए नहीं करता, इसलिए अगर किसी तरह का अन-जाने में अपराध या पाप हो जाता है, तो भी वह पाप उसे नष्ट नहीं कर सकता। उस से पाप डरता है।

अर्थ—काण्वः=कण्व गोत्र में उत्पन्न हुआ व्यक्ति।
कण्वः-कण कण कर के सञ्चय करने वाला।
सोभरिः-सुभरः-उत्तम रूप से भरण करने वाला।
स्वध्वरः-अहं या सम्पत्ति का नाश करने वाला, सरलाध्वरति नष्ट करता है। समिधा=सं इन्ध् = प्रकाश=ज्ञान । आहुती-बलिदान। वेद=अन्न, धन। नमसा नम्रता पूर्वक। अग्नये नेता के लिये। आशुः-'आश् व्याप्तौ' सदा कर्मरत। अर्वा-अर्व् संहार करना। रंहयन्तः-रंहति=प्रेरित करता है। नशत्-प्राप्त होना या नष्ट करना। अर्वा=अश्व=इन्द्रिय। द्युम्नितमं-दीप्तिमय अथवा धनमय। यशः कीर्ति व अन्न।

—श्री मनोहर विद्यालंकार।

★

वैदिक यज्ञ और देवताओं के रूपक

आचार्य श्री अभयदेव[1]

[श्री अरविन्द ने 'आर्य' में वेद के विषय में जो लेख लिखे हैं उन में से एक सन्दर्भ मुझे बहुत प्रिय है। उस में संक्षेप से यज्ञ का और देवताओं का रूपक बहुत ही सुन्दर और यथातथ भाषा में व्यक्त किया गया है। भाई रामेश बेदी के विशेष आग्रह से मैं उस का कुछ अनुवाद 'गुरुकुल पत्रिका' के लिए भेज रहा हूँ।
—लेखक]

वैदिक यज्ञ का रूपक

इस यज्ञ का रूपक कभी यात्रा का या समुद्र यात्रा का रूपक होता है, क्योंकि यह (यज्ञ) चलता है, यह आरोहण करता है, इस का एक लक्ष्य—विशालता, वास्तविक अस्तित्व प्रकाश, आनन्द,—है और इस से चाहा गया है कि यह अपने उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिये एक उत्तम, सीधा और सुखमय मार्ग खोज निकाले और उसी पर चले। यह है सत्य का कठिन किन्तु आनन्दपूर्ण पथ। इसे दिव्य सकल्प के आज्वल्यमान बल द्वारा नीयमान हो कर, मानो पर्वत की एक अधित्यका से दूसरी अधित्यका पर चढ़ना होता है, इसे मानो एक पोत के द्वारा सत्ता के समुद्र को पार करना होता है, इस की नदियों को लाँघना, इस के गहरे गड्ढों और वेगवती धाराओं को अतिक्रमण करना होता है, इस का उद्देश्य होता है असीमता और प्रकाश के सुदूरवर्ती समुद्र पर पहुँचना।

और यह कोई सरल या निष्कंटक प्रमाण नहीं है। यह लम्बे समयों तक एक भयकर और क्रूर युद्ध होता है। निरन्तर ही आर्य पुरुष को श्रम करना होता है और लड़ना होता है और विजय प्राप्त करनी होती है, उसे अथक परिश्रमी, अश्रान्त पथिक और कठोर योद्धा होना होता है, उसे एक के बाद एक नगरी का भेदन करना, आक्रांत करना और लुठन करना, एक के बाद एक राज्य को विजय करना, एक के बाद एक शत्रु को पछाड़ना और उसे निर्दयतापूर्वक पददलित करना होता है। उसकी समग्र प्रगति एक संग्राम होता है देवों और दानवों का, देवों और दैत्यों का, इन्द्र और वृत्र का, आर्य और दस्यु का। उसे आर्यों के शत्रुओं से सामना तो खुले क्षेत्र में भी करना होता है, क्योंकि पहिले के मित्र और सहायक भी शत्रु बन जाते हैं, आर्य राज्यों के राजा जिन्हें उसे जीतना और अतिलंघन करना होता है वे दस्युओं से आ मिलते हैं और उस के मुक्त और परिपूर्ण अभिमान को रोकने के लिए चरम युद्ध में उस के विरोध में आ खड़े होते हैं।

दैत्यों का रूपक

परन्तु दस्यु है स्वाभाविक शत्रु। इन विभाजकों, लुटेरों हानिकारक शक्तियों, इन दानवों, विभाजन की माता के पुत्रों, को ऋषियों ने कई सामान्य संज्ञाओं द्वारा पुकारा है। ये हैं राक्षस, ये हैं खाने वाले, और हड़प जाने वाले भेड़िये (वृक) और चीर डालने वाले, ये हैं क्षति पहुँचाने वाले घृणा करने वाले, ये हैं द्वेष करने वाले; ये हैं सीमित करने वाले या निन्दा करने वाले। पर ऋषि हमें कई विशेष नाम भी बताते हैं। उन में 'वृत्र' वह सर्वप्रधान शत्रु है क्योंकि वह अपनी अन्धकार की कुँडलियों द्वारा दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया की सब सम्भावना को ही रोकता है, रुकावट करता है। और जब प्रकाश के द्वारा वृत्र का वध कर दिया जाता है तो उस में से उस से भी अधिक भयकर शत्रु उठ खड़े होते हैं। शुष्ण है जो हमें पीड़ित करता है अपने अपवित्र अशक्तिकर बल

[1] गुरुकुल विश्वविद्यालय के भूतपूर्व आचार्य। वर्षों वेद पढ़ाते रहे हैं।

हैं, नमुचि है जो कि मनुष्यों से लड़ता है अपनी दुर्बलताओं के द्वारा, अन्य भी हैं जो आक्रमण करते हैं प्रत्येक अपनी निजी विशेष बुराई के साथ और फिर हैं बल और पणि–इन्द्रिय जीवन मे कृपण व्यवहार करने वाले, उच्चतर प्रकाश और उसकी ज्योतियों को चुराने वाले और छिपाने वाले जिन्हें कि वे केवल अन्धकारावृत्त और दुरुपयुक्त ही कर सकते हैं—वे अशुचि समुदाय जो उनकी सम्पदा के ईर्ष्यालु होते हैं किन्तु यज्ञ *कर कभी देवों को हवि प्रदान नहीं करना चाहते। ये* तथा अन्य हैं व्यक्ति,—ये केवल उनके व्यक्तित्वोपपादन मात्र नहीं हैं, उस से कहीं कुछ आधुनिक हैं—हमारी अज्ञानता, बुराई, दुबलता तथा कई सीमितताओं के व्यक्तित्व जो कि मनुष्य पर सतत युद्धरत रहते हैं, ये उसे समीपता से घेरे रहते हैं या ये उस पर दूर से अपने तीर मारते रहते हैं अथवा यहां तक कि ये उसके द्वारा वाले घर में देवों के स्थान में रहते हैं, और अपने आकार रहित और हलकाते हुवे मुखो द्वारा तथा अपने बल के अपर्याप्त निःश्वास के द्वारा उसके आत्म अभिव्यञ्जन का दूषित करते हैं। इन्हें निकाल बाहर करना होगा, इन्हें वशीभूत करना, वध करना, इन के नीचे के अन्धकार में इन्हें धकेल देना होगा। महान् और साहाय्यकारक देवताओं की सहायता के द्वारा।

वैदिक देवतायें विश्वव्यापी देवता के नाम, शक्तियां और व्यक्तित्व हैं और वे दिव्य सत्ता के किसी विशेष सारभूत बल का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये देव विश्व को अभिव्यक्त करते हैं और इस में अभिव्यक्त हुवे हैं। ये प्रकाश की सन्तान, असीमता के पुत्र, मनुष्य की आत्मा के अन्दर अपने बन्धुत्व और सख्य को पहिचानते हैं और उसे सहायता पहुँचाना और उस के अन्दर अपने आपको बढ़ाने के द्वारा उसे बढ़ाना चाहते हैं जिस से कि उस के जगत को वे अपने प्रकाश, बल और सौन्दर्य के द्वारा अभिव्याप्त कर सकें। देवता मनुष्य को पुकारते हैं एक दिव्य सख्य और साथीपन के लिए, वे उसे अपने प्रकाशमय भ्रातृत्व के लिये आकृष्ट करते और ऊपर उठाते हैं, वे अन्धकार और विभाजन के पुत्रों के विरोध में उस की सहायता निमन्त्रित करते और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं। बदले में मनुष्य देवताओं को अपने यज्ञ में आहूत करता है, उन्हें अपनी तीव्रताओं और बलों का, अपनी निर्मलताओं और अपनी मधुरताओं *की हवि भेंट करता है—प्रकाशमय गौ के दूध और* घ' को, आनन्द के पौधे के निचोड़े हुवे रसों की, यज्ञ के अश्व की, अपूप और सुरा को, दिव्य-मन के चमकीले हारओं (घाओं) के लिये अन्न की भेंट चढ़ाता है। वह उन्हें (देवों को) अपनी सत्ता में ग्रहण करता है और उनकी देनों का अपने जीवन में; वह उन्हें मन्त्रों से और सोम रसों से बढ़ाता है और उन के महान तथा प्रकाशमय देवत्वों को पूर्णतया—'जैसे कि लोहार लोहे को घड़ता है,' वेद कहता है—रचता है।

इस सब वैदिक रूपक को समझना हमारे लिए सुगम है यदि एक बार हमें इस की कुञ्जी मिल जाय, परन्तु इसे केवल रूपक मात्र मान लेना गलती होगी। देवता निर्विशेष भावों के, या प्रकृति के मनोवैज्ञानिक और भौतिक व्यापारों के, केवल कवित्वकृत व्यक्तित्वोपपादन नहीं है। वदिक ऋषियों के लिए वे सजीव वास्तविकतायें हैं। मानव आत्मा के उलट फेर, अवस्थान्तर एक वैश्व संघर्ष के निदर्शक होते हैं, न केवल सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों के संघर्ष के किन्तु उन को आश्रय देने वाली तथा उन्हें मूर्त करने वाली वैश्व शक्तियों के संघर्ष के—ये वैश्व शक्तियां ही हैं देव और दैत्य। वैश्व रंगमञ्च पर और वैयक्तिक आत्मा में दोनों जगह वही वास्तविक नाटक उन्हीं पात्रों के साथ खेला जा रहा है।

देवों का रूपक

वे देव कौन से हैं जिनका कि यजन करना है? वे कौन हैं जिन को कि यज्ञ में आवाहन करना है जिससे कि यह वर्धमान देवत्व मानव सत्ता के अन्दर अभिव्यक्त हो सके और रक्षित रह सकें?

अग्नि

सब से पहिला है अग्नि, क्योंकि उस के बिना यज्ञीय ज्वाला आत्मा की वेदि पर प्रदीप्त ही नहीं हो सकती। अग्नि की वह ज्वाला है सकल्प की सप्तजिह्व शक्ति, परमेश्वर की ज्ञान से प्रेरित एक शक्ति। यह सचेतन (जाग्रत) तथा बलशाली सकल्प हमारी मर्त्यता के अन्दर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्ता है, पृथिवी और द्यौ के बीच में मध्यस्थता करने वाला है। जो कुछ हम हवि प्रदान करते हैं उसे वह उच्चतर शक्तियों तक ले जाता है और बदले में उनकी शक्ति और प्रकाश और आनन्द हमारी मानवता के अन्दर ले आता है।

इन्द्र

इन्द्र दूसरा पराक्रमी देव है जो कि शुद्ध अस्तित्व की, दिव्य मन के रूप में स्वतः अभिव्यक्त हुई शक्ति है। जैसे अग्नि एक ध्रुव है, ज्ञान से आविष्ट शक्ति रूप में, अपनी धारा को ऊपर पृथिवी से द्यौ की तरफ भेजता है, तो इन्द्र दूसरा ध्रुव है, शक्ति से आविष्ट प्रकाश रूप में जो द्यौ से पृथ्वी पर उतरता है। वह उतरता है हमारे इस जगत् में एक पराक्रमी वीर योद्धा के रूप में अपने चमकीले घोड़ों के साथ, और अपनी विद्युतों, वज्रों के द्वारा अन्धकार तथा विभाजन का हनन करता है। जीवनदायक दिव्यजलों की वर्षा करता है, शुनि (अन्तर्ज्ञान) की खोज के द्वारा खोई हुई या छिपी हुई ज्योतियों को ढूंढ निकालता है, हमारी मनोमयता के द्युलोक में सत्य के सूर्य को ऊंचा चढ़ा देता है।

सूर्य

सूर्य-देव-है उस सत्य का स्वामी-सत्ता का सत्य, ज्ञान का सत्य, प्रक्रिया का, क्रिया का, गति का, व्यापार का सत्य। इस लिए सूर्य है सब वस्तुओं का स्रष्टा, बल्कि अभिव्यञ्जक (क्योंकि सर्जन का अर्थ है बाहर ले आना, सत्य और सकल्प के द्वारा प्रकट कर देना), और यह हमारी आत्माओं का पिता, पोषक तथा प्रकाशदाता है। जिन ज्योतियों को हम चाहते हैं वे इसी सूर्य के गोयूथ हैं, गौवें हैं, जो सूर्य कि हमारे पास दिव्य ऊषाओं के पथ से आता है और हमारे अन्दर रात्रि में छिपे पड़े एक के बाद एक जगत् का खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है जब तक कि हमारे लिए सर्वोच्च, परम आनन्द को नहीं खोल देता।

सोम

इस आनन्द की प्रतिनिधि भूत देवता सोम है। उसके आनन्द का रस (सुरा) छिपा हुआ है पृथ्वी के उपजों में, पौधों में और सत्ता के जलों में, यहा हमारी भौतिक सत्ता तक में उस के अमरतादायक रस हैं और उन को निकालना है, सेवन करना है और उन्हें सब देवताओं को हवि रूप में प्रदान करना है, क्योंकि सोमरस के बल से ही ये देव बढ़ेंगे और विजयशाली होंगे।

चार आदित्य

इन प्राथमिक देवों में से प्रत्येक के साथ अन्य देव जुड़े हैं जो उस के अपने व्यापार से उद्गत व्यापारों को पूरा करते हैं। क्योंकि यदि सूर्य के सत्य को हमारी मर्त्य प्रकृति में दृढ़तया स्थापित होना है तो कुछ पूर्ववर्ती अवस्थायें हैं जिन का हो जाना अनिवार्य है: एक बृहत् पवित्रता और स्वच्छ विशा-

लता जो कि समस्त पाप और कुटिल मिथ्यात्व की विनाशक है—यह है वरुण देव, प्रेम और समावेशन की एक प्रकाशमय शक्ति जो कि हमारे विचारों, कर्मों और आवेगों को आगे ले जाती और उन्हें सामञ्जस्ययुक्त कर देती है; यह है मित्र देव; सुस्पष्ट-विवेचनशील अभीप्सा तथा प्रयत्न की एक अमर-शक्ति, (पराक्रम)—यह है अर्यमा; सब वस्तुओं का समुचित उपभोग करने की एक सुखमय स्फूर्ति जो कि पाप, भ्रान्ति और पीड़ा के दुस्वप्न को निवारण करती है—यह है भग। ये चारों सूर्य के सत्य की शक्तियां हैं।

अश्विनौ

सोम का समग्र आनन्द हमारी प्रकृति में पूर्णतया स्थापित हो जाय इस के लिए मन, प्राण और शरीर की एक सुखमय और प्रकाशमान अविकलाग अवस्था का होना आवश्यक है। यह अवस्था हमें प्रदान की जाती है युगल अश्विनी के द्वारा। प्रकाश की दुहिता से विवाहित, मधु को पीने वाले, पूर्ण तुष्टियों को लाने वाले व्याधि और अग भग के भैषज कर्त्ता, ये अश्विनौ हमारे ज्ञान के भागों और हमारे कर्म के भागों को अधिष्ठित करते और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ता को सुगम और विजयशाली आरोहण के लिए तैयार कर देते हैं।

ऋभुगण

इन्द्र के दिव्य मन के, मानसिक रूपों के निर्माता के तौर पर, सहायक होते हैं उसके शिल्पी ऋभुगण। ये ऋभु हैं मानवीय शक्तियां जिन्होंने कि यज्ञ के संपादन से और सूर्य के ऊंचे निवास-स्थान तक अपने उज्वल आरोहण के द्वारा अमरत्व को प्राप्त किया है और जो अपनी इस सिद्धि की पुनरावृत्ति किये जाने में मनुष्य जाति की सहायता करते हैं। ये मन के द्वारा इन्द्र के घोड़ों का निर्माण करते हैं, अश्विनों के रथ का, देवताओं के शस्त्रों का, तथा यात्रा तथा युद्ध के समस्त साधनों का। परन्तु सत्य के प्रकाश के प्रदाता तथा वृत्रहंता के रूप में इन्द्र के सहायक हैं मरुत्। ये मरुत् संकल्प की तथा वातिक या प्राणिक बल की शक्तियां हैं जिन्होंने कि विचार के प्रकाश और आत्मप्रकटन की गिरा को प्राप्त किया है। ये समस्त विचार और वाणी के पीछे उसके प्रेरक के रूप में रहते हैं और परम चेतना के प्रकाश, सत्य और आनन्द को पहुँचने के लिये युद्ध करते हैं।

देवियां

और फिर स्त्रीलिंग शक्तियां भी हैं; क्योंकि देव पुरुष और स्त्री दोनों हैं और देवता भी या तो सक्रिय करने वाली आत्मायें हैं या निष्प्रतिरोध रूप से कार्य सम्पन्न करने वाली और यथाक्रम विन्यास करने वाली शक्तियां हैं। अदिति, देवों की असीम माता सब से पहले आती है, और फिर उसके अतिरिक्त सत्यचेतना की पांच शक्तियां भी हैं—मही अथवा भारती है वह विशालवाणी जोकि सब वस्तुओं को दिव्य स्रोत से हमारे लिये लाती है; इडा है सत्य का वह दृढ़ आदिम वाणी जो कि हमें सक्रिय दर्शन को प्रदान करती है; सरस्वती है इस (सत्य) का बहता हुई धारा और इसकी अन्तः प्रेरणा की वाणी; सरमा, अन्तर्ज्ञान की देवी, है वह द्युलोक की शुनी जोकि अवचेतना की गुफा में उतर आती है और वहां छिपी हुई ज्योतिओं को ढूंढ लेती है, दक्षिणा है जिसका कि व्यापार होता है ठीक ठीक विवेचन करना, क्रिया और हवि का विनियोग करना तथा यज्ञ में प्रत्येक देवता को उसका भाग वितीर्ण करना। प्रत्येक देव की भी अपनी अपनी एक स्त्रीलिंगी शक्ति है।

तीन लोक

इस सब क्रिया और संघर्ष और आरोहण के आधार हैं द्यौ हमारा पिता और पृथिवी हमारी माता

देवों के पितरों, जोकि क्रमशः शुद्ध मानसिक एवं अन्तरात्मिक चेतना को तथा भौतिक चेतना को वहन करते हैं। इनका विस्तृत और मुक्त अवकाश हमारी सिद्धि की अवस्था है। वायु, प्राण का अधिपति इन दोनों को अन्तरिक्ष, प्राण-शक्ति के लोक के द्वारा जोड़ता है। और फिर अन्य देवता भी हैं– पर्जन्य, द्युलोक की वर्षा को देने वाला, दधिक्रावा, दिव्य युद्धाश्व, अग्नि की एक शक्ति; आधार का रहस्यमय सर्प (अहिर्बुध्न्य), त्रितआप्त जोकि भुवन के तीसरे लोक में हमारी त्रिविध सत्ता को निष्पन्न करता है, सिद्ध करता है, इनके अतिरिक्त और भी है।

इन सभी देवत्वों का विकास हमारी पूर्णता के लिये आवश्यक है। और वह पूर्णता हमें प्राप्त करनी चाहिये अपनी सभी स्तरों पर–पृथिवी की विस्तीर्णता में हमारी, भौतिक सत्ता और चेतना में; प्राणिक वेग और क्रिया और उपभोग के तथा वातिक स्पदन के पूर्ण बल में, जो कि घोड़े (अश्व) के दृष्टान्त से निरूपित किया गया है, जिस घोड़े को कि हमें अपने प्रयत्नों को चढ़ाने के लिये अवश्य बाहर निकालना चाहिये; भावमय हृदय के पूर्ण आनन्द में और मन की एक चमकती उष्णता और निर्मलता में, हमारी समस्त बौद्धिक और अन्तर्मानसिक सत्ता भर में; अतिमानस प्रकाश के आगमन में, उषा के तथा सूर्य के तथा गौओं की ज्योतिर्मयी माता के आगमन में, जो कि हमारी सत्ता के रूपान्तर करने के लिये आते हैं; क्योंकि इसी प्रकार हम सत्य को अधिकृत करते हैं, सत्य के द्वारा आनन्द की अद्भुत महान् लहर को, आनन्द में निरपेक्ष अस्तित्व की असीम चेतना को।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश

तीन महान् देवता, जो कि पौराणिक त्रिमूर्ति के मूल हैं, परमदेव की तीन बृहत्तम शक्तियां, इस क्रमोन्नति को और इस ऊर्ध्वमुख विकास को सम्भव बनाते हैं; ये हैं जो कि ब्रह्माण्ड की इन सब जटिलताओं को उसकी विशाल रेखाओं में और मूलभूत शक्तियों में धारण करते हैं। पहिला ब्रह्मणस्पति है स्रष्टा, शब्द के द्वारा, अपने रव के द्वारा वह सर्जन करता है—इस का अभिप्राय हुवा कि वह अभिव्यक्त करता है, सब अस्तित्व को और सब सचेतन ज्ञान को तथा जीवन की गति को और अन्तिम परिणत रूपों को निश्चेतना के अन्धकार में से बाहर निकाल कर प्रकट कर देता है। फिर रुद्र प्रचण्ड और दयालु, ऊर्जस्वी देव है, जो कि अपने आपको सुस्थित करने के लिये होने वाले जीवन के संघर्ष का अधिष्ठाता है, वह है परमेश्वर की शास्त्र-सज्जित-मन्युयुक्त तथा कल्याणकारी शक्ति जो कि सृष्टि को जबरदस्ती ऊपर की ओर उठाती है, जो कोई विरोध करता है उस सब पर प्रहार करती है, जो कोई गलती करता है या प्रतिरोध करता है उस सब को चाबुक लगाती है, जो कोई क्षत हुवा है और दुःखी है और शिकायत करता है तथा अधीन होता है उस सब की मरहम-पट्टी करती, उसे चंगा करती है। तीसरा, विशाल व्यापक गति वाला विष्णु है जो अपने तीन पाद-क्रमों मे इन सब लोकों को धारण करता है। यह विष्णु ही है जो कि हमारी सीमित मर्त्यता के अन्दर इन्द्र की क्रिया होने के लिये विस्तृत स्थान बनाता है; यह उसके द्वारा और उसके साथ ही होता है कि हम उसके उच्चतम पदों तक आरोहण कर पाते हैं जहां कि उस मित्र, प्रिय, परम सुखदाता देव को हम अपनी प्रतीक्षा करते हुवे पाते हैं।

यज्ञ की प्रक्रिया

हमारी यह पृथिवी जो कि सत्ता के अन्धकारमय निश्चेतन समुद्र में से निर्मित हुई है, अपनी उच्च रचनाओं को और अपने चढ़ते हुवे शिखरों को द्युलोक की ओर ऊपर उठाती है; मन के द्युलोक की अपनी ही निर्जी रचनायें है, पर्जन्य है जो कि अपने विद्युत प्रकाशों

को तथा अपने जीवन-जलों को प्रदान करते हैं; निर्बलता की तथा मधु की धारायें नीचे के अवचेतन समुद्र में से उठ कर ऊपर चढ़ती हैं; और ऊपर के अतिचेतन समुद्र को पहुँचना चाहती हैं, और ऊपर से वह समुद्र अपनी प्रकाश की और सत्य की और आनन्द की नदियों को नीचे की ओर, हमारी भौतिक सत्ता के अन्दर तक भी बहाता है। इस प्रकार भौतिक प्रकृति के रूपकों के द्वारा वैदिक कवि हमारे आध्यात्मिक आरोहण का गीत गान करते हैं।

वह आरोहण प्राचीनों, मानव पूर्व पितरों, द्वारा पहिले ही संपन्न किया जा चुका है और उन महान् पूर्वजों की आत्मा अब भी अपनी सन्तानों का सहायता करता है क्योंकि नवीन उषायें पुरानिओं की पुनरावृत्ति करने वाला हैं तथा भविष्य का उषाओं से मिलने के लिये प्रकाश मे आगे झुकती हैं। कारव, कुत्स, अत्र, कक्षीवान्, गौतम, शुनःशेप आदि कुछ ऋषि आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर के आदर्श स्थापित कर चुके हैं जिनकी विजय मानव जाति की अनुभूति में सतत पुनरावृत्त होने की प्रवृत्ति रखती है। सप्त ऋषि, वे अंगिरस, मन्त्र गान करने को उद्यत, अब भी और सदैव प्रतीक्षा कर रहे हैं कि गुफा को तोड़ें, खोयी हुई गौओं को खोज, छिपे हुवे सूर्य को पुन. प्राप्त करें। इस प्रकार आत्मा सहायता करने वालों, और हानि पहुँचाने वालों, मित्रों और शत्रुओं, से भरा हुवा एक युद्ध क्षेत्र है। वह सब सजीव है, भरपूर है, वैयक्तिक है, सचेतन है, सक्रिय है। यज्ञ के द्वारा और शब्द के द्वारा हम अपने निज के लिये प्रकाशयुक्त द्रष्टाओं को, वीरों को, अपने लिये लड़ने को उत्पन्न करते हैं सृष्ट करते हैं, जो कि हमारे कार्यों के पुत्र होते हैं। ऋषि वृन्द और देवता हमारे लिये हमारी चमकीली गौओं को खोज लाते हैं; ऋभुगण मन के द्वारा देवों के रथो को और उनके घोड़ों को और उनके चमकते हुवे शस्त्रों को निर्मित करते हैं। हमारा जीवन एक घोड़ा है जो हिनहिनाता हुआ और सरपट दौड़ता हुआ आगे आगे और ऊपर ऊपर हमें चढ़ाये लिये जा रहा है; इसकी शक्तियां द्रुतगामी अश्व हैं मन की मुक्त शक्तियां विस्तृत पंखों वाले पक्षी हैं; यह मानसिक सत्ता या यह आत्मा ऊपर की ओर उड़ने वाला हंस या श्येन है जो कि सैकड़ों लोह भित्तियों को तोड़कर बाहर निकल आता है और आनन्द धाम के ईर्ष्यालु सरक्षकों से सोम की सुरा को छीन लाता है। प्रत्येक प्रकाशपूर्ण परमेश्वरान्मुख विचार जो कि हृदय की गुप्त अगाध गहराईयों से निकलता है एक पुरोहित है और एक स्रष्टा है और वह प्रकाशमय सिद्धि तथा पराक्रमपूर्ण कृतार्थता के दिव्य गीत का गान करता है हम सत्य के चमकीले सुवर्ण को खोजते हैं; हम द्युलोक की निधि की कामना करते हैं।

उपसंहार

मनुष्य का आत्मा सत्ताओं से भरा हुवा एक संसार है, एक राज्य है जिसमें परम विजय पाने के लिये या उसमें बाधायें डालने के लिये सेनायें संघर्ष करती हैं, एक घर है जिसमे कि देवता हमारे अतिथि हैं और जिसे कि असुर अधिकृत कर लेना चाहते हैं, इसकी शक्तियों की पूर्णता और इसकी सत्ता की विशालता यज्ञ के किसी स्थान का उसकी स्वर्गीय निष्पन्नता के लिये विस्तृत व्यवस्थित और पवित्रीकृत कर देती है।

ये हैं वेद के मुख्य रूपको में से कुछ, और है उन पूर्व पुरुषाओं की शिक्षा की बहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त रूपरेखा। इस प्रकार समझा हुआ ऋग्वेद एक अस्पष्ट, गड़बड़ से भरा और जगली गीतावली नहीं रहता, यह मनुष्य जाति का एक ऊँची अभीप्सा से युक्त गीत पाठ बन जाता है, इसके सूक्त हैं आत्मा की अपनी आरोहण करते हुवे गाये जाती वीर गाथा के आख्यान।

कम से कम यह है वेद; मैं और जो कुछ प्राचीन विज्ञान, लुप्त विद्या, पुरानी मनो-भौतिक परम्परा आदि हों वह अभी खोजना शेष ही है।

★

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और भारतीय विचारधारा

डा० सुरेन्द्रनाथ गुप्ता एम० बी० बी० एस०

आजकल का द्वन्द

इधर कुछ वर्षों से अपने देश में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में एक अजीब द्वन्द चल रहा है जहां एक ओर हमारे कुछ दूरदर्शी नेता और शासक देश को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के नवीनतम रूप से अलकृत करना चाहते हैं, वहां दूसरी ओर कुछ लोग स्वदेशी और विदेशी का नारा लगा कर, अतीत के सुनहरे सपने दिखा कर, जन साधारण की भावुकता को उभाड़ कर अपना अभीष्ट सिद्ध करने के प्रयत्न में रत हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान विदेशी है, हमारे देश की जलवायु स्वभाव और गुण के उपयुक्त नहीं है, आयुर्वेद अपने देश की विद्या है, इस से अधिक उपयुक्त और श्रेष्ठ कुछ हो ही नहीं सकता, चिकित्सा विज्ञान का चरमोत्कर्ष ही आयुर्वेद है आ द अनेक दम्भयुक्त दलीलें आजकल दी जा रही हैं।

साधारण जनता तो क्या, अच्छे अच्छे पढ़े लिखे प्रबुद्ध जन भी इन भावुकता प्रधान बातों में बहक जाते हैं। आयुर्वेद, यूनानी, आधुनिक आदि चिकित्सा पद्धतियों को इस प्रकार समझा जा रहा है कि मानो वे एक दूसरे से कोई मतलब ही नहीं रखतीं। इन में एक विचित्र स्पर्धा और सौतिया डाह सा उत्पन्न होता जा रहा है।

अतीत का मोह

जब तक हम पराधीन और पद्दलित थे हम में अपने अतीत के प्रति गौरवमय भावना का होना स्वाभाविक ही था, यद्यपि इस में सिवा भ्रम, मोह और आत्मतुष्टि के और कुछ न था। इस भावना ने पराधीनता के लम्बे दुष्काल में राष्ट्र के आत्माभिमान को कुण्ठित नहीं होने दिया। किन्तु अब जब हम स्वतन्त्र हो गये हैं, यही भावना राष्ट्र के लिए विष का काम कर रही है और समस्त प्रगति, विकास और सुधार के पथ में भयानक बाधा बन रही है।

अतीत के प्रति हमारा यह मोह इतना मज्जागत हो गया है कि और कोई बात समझ में ही नहीं आती। और कभी कभी तो यदि मस्तिष्क मानना भी चाहता है तो हमारे अन्तर का दम्भ अकड़ उठता है। यही कारण आज चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में द्वन्द उत्पन्न कर रहा है।

वैद्य, हकीम आदि तो मुख्यतः अपने न्यस्त स्वार्थ की रक्षा हेतु ही आज इस द्वन्द का तूमनाद कर रहे हैं, किन्तु जब उन के स्वर में स्वर मिला कर देश के प्रबुद्ध जन भी बोल उठते हैं, तो हमें इन का कारण गम्भीरता से सोचना पड़ता है। अतीत का यह मोह और स्वदेशी की 'साइकोसिस' उन को पक्षपातरहित मूल्यांकन नहीं करने देती।

अशुभ परिणाम

इस द्वन्द के अमंगलकारी परिणाम दृष्टिगत होने लगे हैं। हमारी प्रांतीय सरकारों की इन चिकित्सा पद्धतियों के प्रति समानांतर नीति इसी द्वन्द के भय से उत्पन्न हुई उन की किंकर्तव्यविमूढ़ दशा की परिचायक है। इस प्रकार न मालूम कितना समय, शक्ति और धन के अपव्यय होने का भय हो रहा है।

सही दिशा

यदि हम थोड़ी देर के लिए अतीत का मोह त्याग कर सही दिशा में सोचें तो स्पष्ट हो जायगा कि आज की वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति दूसरी पद्धतियों से असम्बन्ध कोई स्वतन्त्र पद्धति नहीं है। यह अपनी

पूर्ववर्तिनी पद्धतियों का केवल संस्कृत और परिष्कृत रूप है। ज्यों ज्यों ज्ञान की सीमा बढ़ती गई इस का रूप परिष्कृत होता गया। इस प्रकार यह सहसा ही कहीं शून्य से नहीं उत्पन्न हो गई है।

इतिहास

यदि किसी समस्या को सुलझाने के लिए हम तत्सम्बन्धी इतिहास की सहायता लें तो निश्चय ही उस का हल सरल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान द्वन्द्व का समाधान करने के लिए हमें चिकित्सा विज्ञान के इतिहास की ओर निहारना होगा। ऐसा करते समय केवल किसी पद्धति विशेष अथवा कुछ देशों संस्कृतियों और जातियों के इतिहास से काम न चलेगा। इस के लिए तो पृथ्वी पर मानव जाति के अभ्युदय काल से ले कर आज तक का इतिहास देखना होगा।

रोगों का उदय

रोगों का उदय भी मनुष्य के साथ ही हुआ है। पृथ्वी पर कब प्राणियों की सृष्टि हुई और कब मानव अवतरित हुआ, यह कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर भी लाखों वर्ष तो बीत ही चुके हैं। मानव सभ्यता के प्रस्तर युग की हो अवस्था लगभग पाच लाख वर्ष आकी जाती है। उस काल का कोई प्रामाणिक इतिहास तो उपलब्ध हो ही नहीं सकता, केवल कल्पनायें की जा सकती हैं। आजकल के वैज्ञानिकों की यत्र तत्र की गई स्फुट खोजों और उन के परिणामों के अनुसार हम अपनी इन कल्पनाओं की शृंखला पिरो रहे हैं। फिर भी यह तो सच है कि आज की सभ्यता अनादि काल से नहीं चली आ रही है। इस का इतिहास तो केवल चार पाच हजार वर्ष पुराना ही है।

हां, तो रोगों का उदय भी प्रागैतिहासिक युग के आदिकाल के मानव के साथ-साथ हुआ था। उस समय के मानव की रोगों के प्रति क्या प्रतिक्रिया रही होगी यह आसानी से सोचा जा सकता है। आज भी यत्र तत्र मानव जाति की जो शाखायें अपने आदि रूप में विद्यमान हैं, उन में रोगों के प्रति जो धारणायें हैं निश्चय ही उन से मिलती जुलती धारणायें आदि मानव की भी रही होंगी। इतना ही नहीं, आदि मानव की उन धारणाओं के मनोवैज्ञानिक अवशेष आज भी सभ्य जगत् में प्राय सभी जगह देखने को मिलते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदिकाल से ले कर प्रस्तर युग तक का मानव रोगों की उत्पत्ति उन के स्वाभाविक कारणों से नहीं मानता था अपितु वह उन्हें अपने लिए अवश्यम्भावी समझता था।

तब रोगों को दैवी प्रकोप समझा जाता था। मानों व्यक्ति के दुष्कर्मों से कुपित हो कर देव ने उसे दंडित किया हो। कभी कभी किसी जीवित अथवा मृत व्यक्ति का कोप भी रोगों की उत्पत्ति का कारण माना जाता था। कहा जाता था कि रोगी व्यक्ति के सिर अथवा देह में कोई भूत प्रेतादि जैसी चीज घुस कर रोग के लक्षण उत्पन्न करती थी। कभी कभी यह भी कहा जाता था कि रोगी व्यक्ति का आत्मा उस के शरीर को छोड़ गया है।

रोगों की उत्पत्ति के इन कपोल कल्पित कारणों के अवशेष आज भी देखने को मिलते हैं। बच्चों को नजर लगना दूसरे की हाय लगना, भूत प्रेत का चढ़ आना आदि ऐसी ही अनेक बातें भी आज भी प्रचलित हैं।

चिकित्सा विज्ञान का जन्त्र मन्त्र युग और आदि मानव का डाक्टर

जब से रोगों का सामना करना पड़ा तभी से मनुष्य उन से लोहा लेने का प्रयत्न भी करता रहा।

आदि काल के मानव के तत्सम्बन्धी उपाय उस की इन्हीं मान्यताओं पर आधारित थे। क्योंकि तब रोगों की उत्पत्ति दैवी प्रकोप के कारण मानी जाती थी, इस लिए उन के निवारण के लिए देवी देवताओं की प्रार्थना और उनके कोप को शमन करने के उपाय ही पर्याप्त समझे जाते थे। उन दिनों के चिकित्सकों के प्रधान प्रसाधन जन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूंक ही थे।

तब लोग यह भी विश्वास करते थे कि रोगों के कोप को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति अथवा किसी अन्य प्राणी पर पहुँचाया जा सकता है। इस उद्देश्य के अनुसार भी अनेक उपक्रम किये जाते थे यदि यह समझा जाता था कि रोगी के शरीर से उस का आत्मा चला गया है तो तरह तरह के विचित्र उपायों द्वारा उसे पुनः अपने पुराने आवास में लाने का प्रयत्न किया जाता था। कभी कभी यह भी समझा जाता था कि रोगी व्यक्ति के सिर अथवा शरीर में किसी प्रेतात्मा के घुस जाने के कारण रोग के लक्षण प्रकट हुये हैं। यह धारणा विशेषकर मृगी, उन्माद, सिर दर्द, पक्षाघात आदि स्नायविक संस्थान सम्बन्धी रोगों के लिए थी। इस के उपचार के लिए उस प्रेतात्मा को रोगी के शरीर से निकालने के लिए तरह तरह के उपाय काम में लाये जाते थे। प्रस्तर युग में तो जीवित मनुष्य के कपाल में छेद करने की प्रथा भी प्रचलित थी। प्रस्तर युग के समय की अनेक ऐसी खोपड़ियां पाई गई हैं जिन में एक या अधिक छेद हैं। यह निश्चित है कि छेद जीवित अवस्था में ही किये गये थे, और उस के बाद भी काफी समय तक वे व्यक्ति जीवित रहे। प्रकट है कि उस समय का कपाल छेदन का यह शल्योपचार प्रस्तर निर्मित यन्त्रों द्वारा ही किया जाता रहा होगा।

इस प्रकार आदि मानव का डाक्टर भी रोगों की उत्पत्ति सम्बन्धी तत्कालीन मान्यताओं के अनुसार उनकी चिकित्सा किया करता था। इस सब से रोगों के निवारण में थोड़ी बहुत सहायता तो अवश्य मिलती होगी, क्योंकि इन से रोगी का आत्मविश्वास बढ़ता था और यह आत्मविश्वास उसके रोगों पर विजय पाने के प्राकृतिक साधनों की सहायता करता था।

आज भी संसार के प्रायः सभी देशों में चिकित्सा विज्ञान के इस जन्त्र मन्त्र युग के अवशेषों के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। पिछड़े हुए आदिवासियों में आज भी इस प्रकार की सभी बातें देखी जा सकती हैं। हमारे देश में देवी देवताओं और पीर फकीरों की मन्नतें मानना, रोगों का झाड़ना फुंकवाना हमें चिकित्सा विज्ञान के जन्त्र मन्त्र की याद दिलाते हैं। रोगों के उपचार का यह सब से प्रारम्भिक उपाय आज भी किसी न किसी रूप में सब जगह विद्यमान है और सम्भवतः तब तक रहेगा जब तक पृथ्वी पर मनुष्य की सृष्टि है।

अनुभव और निरीक्षण

इस प्रकार लाखों वर्ष तक चिकित्सा विज्ञान का यह जन्त्र मन्त्र युग रहा होगा। फिर धीरे धीरे मनुष्य ने घटनाओं का निरीक्षण करना सीखा और उन के अनुभव से लाभ उठाने लगा। ऐसे सभी अनुभव आकस्मिक घटनाचक्र और संयोगिक घटनाओं पर अवलम्बित होते थे। उस समय की सभी बातें केवल घटनाओं के निरीक्षण पर ही आधारित होती थीं। क्या, क्यों और कैसे के लिए कोई भी परेशान न होता था।

धीरे धीरे मनुष्य को कुछ जड़ी बूटियों तथा अन्यान्य पदार्थों के गुणों का पता चला, और वह उन्हें अपने अनुभव के आधार पर रोगों के उपचार के लिए प्रयोग करने लगा। उदाहरणार्थ जब पहले पहल किसी व्यक्ति को कोई वस्तु खाने से दस्त आने लगे, उस ने सोचा कि इस के प्रयोग से दस्त आने

लगते हैं। फिर इसी अनुभव के आधार पर कब्ज होने पर इस का प्रयोग आरम्भ हुआ। इसी प्रकार जब मालूम हुआ कि किसी दूसरी वस्तु के प्रयोग से दस्त आने बन्द हो जाते हैं, तो उसे अतिसार के रोगियों पर प्रयोग किया जाने लगा। इसी तरह धीरे धीरे इस प्रकार प्रयोग होने वाले पदार्थों की संख्या बढ़ती गई, और तरह तरह के लक्षणों की चिकित्सा के लिए उन का प्रयोग किया जाने लगा। इस चिकित्सा प्रणाली को अंग्रेजी में 'इम्पीरिकल' कहते हैं। इसमें लाक्षणिक चिकित्सा का ही प्रमुख स्थान है। यह शैली घटनाओं और उन के परिणामों के निरीक्षण पर अवलम्बित थी। वैज्ञानिक विचारशक्ति एवं तर्क का इस में कोई स्थान न था। उस समय से लेकर आज से सौ, दो सौ साल पहले तक यही प्रणाली विश्व भर में विभिन्न कालों और स्थानों में भिन्न भिन्न नाम के अन्तर्गत प्रचलित रही है। इसी प्रणाली और शैली के अन्तर्गत मानव समाज को अनेक मूल्यवान् औषधियों की भेंट मिली है।

यदि व्यक्ति अपनी आखें खुली रखता है तो घटनाओं का सही निरीक्षण और उन के परिणामों से अपना अनुभव बनाना कठिन नहीं है। यदि आप बाजार से आम खरीद कर लायें जिन का रंग हरा हो और वे कच्चे हों, तथा लाने पर खट्टे निकलें, लाल और पीले आम खाने पर मीठे निकलें और ऐसा ही चार पांच बार हो, तो आप सहज ही कहने लगेंगे कि हरे आम खट्टे होते हैं और लाल आम मीठे।

ऐसा क्यों है यह न जानते हुए भी आप का निरीक्षण और उस पर आधारित अनुभव सही है, और फिर आप तथा आप के मित्र इस अनुभव से आम खरीदते समय लाभ उठा सकते हैं। हरे आम खट्टे क्यों होते हैं यह प्रश्न तो शायद आप के दिमाग में उठा ही न होगा। क्योंकि साधारण व्यक्ति को तो इतना ही पर्याप्त है कि उसे मीठे आम मिलते जायें, फिर वे मीठे क्यों होते हैं, इस का उसे चिन्ता नहीं।

इसी सिलसिले में और इसी शैली के अन्तर्गत मानव समाज को उस वस्तु का पता लगा जिस ने आज तक असंख्य प्राणियों को जीवनदान दिया है। इस से हमारा संकेत सिनकोना की ओर है। सिनकोना वृक्ष से ही कुनैन निकाला जाती है और यह मलेरिया ज्वर की सर्वोत्कृष्ट औषधि है। परन्तु जिस समय इस का उपयोग आरम्भ हुआ था, तब न तो मलेरिया ज्वर का कारण ही मालूम था और न सिनकोना के लाभकारी परिणाम का रहस्य। तब तो मनुष्य केवल इतना जान कर ही सन्तुष्ट हो गया था कि सिनकोना अमुक ज्वर का सर्वोत्कृष्ट औषधि है।

सर्वप्रथम इस वृक्ष का उपयोग दक्षिण अमेरिका के पीरू देश के निवासियों को ज्ञात था। वहां ये वृक्ष बहुतायत से उगते थे। ज्वर का भी प्रकोप था। संयोगवश कुछ लोगों ने यह निरीक्षण किया कि इस ज्वर के रोगी जब उन गड्ढों और तालाबों का जल पीते हैं जिन के किनारे यह वृक्ष हैं तो उन का रोग जाता रहता है। उन गड्ढों में उन की पत्तियां गिर कर सड़ा करती थीं। बस तभी से यह वृक्ष मानव समाज का अन्यतम मित्र बन गया। बिलकुल इसी तरह मानव समाज अपने लाखों वर्षों के अनुभव एकत्र करता आया है। उन में अधिकांश सही हैं और बहुत से भ्रम पूर्ण भी। और धीरे धीरे इन की सहायता से लक्षणों की चिकित्सा भी करता रहा। (असमाप्त)।

✱

तपस्वियों का आहार

श्री अनुकूल चन्द्र दे तथा श्री रमेश चन्द्र नैथानी[1]

वन किसी भी देश की बहुमूल्य निधि है। वनों से हम लकड़ी, शहतीर, गोंद, बिरोजा, रेशा तथा कपास, मोम तथा शहद के अतिरिक्त काफी मात्रा में सहायक खाद्य पदार्थ भी प्राप्त करते हैं। यह सहायक खाद्य पदार्थ वर्तमान खाद्य स्थिति को देखते हुवे बड़े महत्व के हैं, यदि इन्हें दैनिक उपयोगों में लाते रहें तो हमारी खाद्य स्थिति में एक अच्छा सुधार हो सकता है और अन्न अकाल को चर्चा कदाचित् सर्वदा के लिए बन्द हो सकती है।

यह तो सर्व विदित ही है कि प्राचीन काल से साधु सन्यासी अपने जीवन यापन की सभी वस्तुए वनों से ही प्राप्त करते रहे हैं। वनों से हमें कुछ प्रत्यक्ष रूप में तथा कुछ अप्रत्यक्ष रूप में खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं प्रत्यक्ष रूप में वनों से प्राप्त सैंकड़ों कन्द मूल, फल हमारे दैनिक खाये जाने वाले फलों, सब्जियों तथा भोजन के पदार्थों की न्यूनता-पूर्ति में हमारे पुष्टिकर खाद्य में सहायक हो सकते हैं। अप्रत्यक्ष श्रेणी में वे सहायक खाद्य पदार्थ आते हैं जो सीधे खाये तो नहीं जाते पर उन उद्योग-धन्धों में काम आ सकते हैं जिनमें कि हमारा बहुत सा अन्न उपयोग में लाया जाता है। इस प्रकार हमारा काफी अन्न बच सकता है और खाद्य के अभाव की समस्या किसी सीमा तक हल हो सकती है। इस प्रकार के पदार्थ के उदाहरण स्वरूप इमली के बीजों को ही लीजिए। यद्यपि ये बीज खाये भी जाते हैं पर सीधे खाये जाने की अपेक्षा यदि ये पूर्णतया सूती तथा जूट के कपड़ों में श्वेतसार (खाद्यान्न चूर्ण) के स्थान पर उपयोग में आ जाय तो प्रति वर्ष ७५,००० टन अन्न की बचत मनुष्य उपयोग के लिए हो सकती है।

यहां हम भारत के वनों से उपलब्ध प्रत्यक्ष सहायक खाद्य पदार्थों में से कुछ कन्द मूल, फल आदि की ही चर्चा करेंगे।

काफल—सर्वदा हरा रहने वाला वृक्ष है जिस में लाल रंग के ½ इञ्च से ⅓ इञ्च व्यास वाले फल लगते हैं यह रावी नदी के पूर्व ३००० से ६००० फिट की ऊंचाई तक होता है। खासी तथा सिलहट की पहाड़ियों तथा दक्षिणी सिंगापुर में भी पाया जाता है। इसका फल काफी गूदेदार होता है जिसके अन्दर गुठली होती है ये फल मई माह में पकते हैं जो खाने में खट-मिट्ठे होते हैं और बड़े चाव से खाये जाते हैं।

हिसालू—एक लम्बी कांटेदार झाड़ी है। जिसका फल पीला, गोल, रसीला तथा स्ट्राबेरी की की तरह ⅓ इंच व्यास का होता है। यह झाड़ी सभी पर्वती भागों में ४००० से ७००० फिट की ऊंचाई तक पाई जाती है। इसका फल, जो कि मई-जून के मास में पकता है—रसभरी की तरह सुन्दर मिठास वाला वाला होता है। यह एक सर्वोत्तम जंगली फल है जो कि स्थानिकों के लिए अच्छा नाश्ता है। बहुत सी पर्वतीय मण्डियों में यह विक्रयार्थ भी आता है।

काला हिंसालू—अपने आप उगने वाली, लम्बी कांटेदार झाड़ी है जिसमें घने बैंजनी या काला रंग लिए स्ट्राबेरी की तरह प्राय ½ से ⅓ इंच व्यास वाले गोल फल होते हैं। यह झाड़ी हिमालय के उष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों में काश्मीर से लेकर शिकिम तक ४,००० से १०,००० फिट की ऊंचाई तक पाई जाती है। इसका फल मई मास में पकता है जो खाने में बड़ा स्वादिष्ट होता है।

१ भारत सरकार की वन्य अनुसन्धानशाला में कार्य कर रहे हैं।

किंगोड़ा—इसे किलमोड़ा भी कहते हैं। यह छोटा कांटेदार पेड़ होता है जिसके फल लाल या काले रंग के ¼ इंच व्यास के होते हैं। यह पेड़ ३,००० से ५,००० फिट की ऊंचाई पर पैदा होता है इसका फल मई-जून मास में पकता है जो कुछ खट्टा होता है और बड़े चाव से खाया जाता है।

पचनाला—छोटा कांटेदार पेड़ है जिसमें बैंजनी रंग लिए एक इंच व्यास के गोल फल लगते हैं। यह पेड़ हिमालय की निचली पहाड़ियों में उत्तर प्रदेश से पूर्व की ओर बंगाल और आसाम में ४,००० फिट की ऊंचाई तक होता है इसका फल खाने में खट्टा होता है परन्तु हथेलियों के बीच लोई बनाने की तरह मल कर या ज़मीन पर रख कर हथेली से हल्का हल्का घुमाते रहने से इस में मिठास आ जाता है। यह अक्सर बाजारों में भी बेचा जाता है। शरद ऋतु इसके पकने का समय है। इसका अचार भी बनाया जाता है।

फालसा—एक छोटा पेड़ है जिसमें गोल, लाल या बैंजनी रंग के ¼ इंच से ½ इंच तक व्यास वाले फल लगते हैं। यह पेड़ सर्वत्र उगता है और कहीं कहीं तो इसकी खेती भी की जाती है। इसका फल खाने में खट्टा होता है जो बड़े आनन्द से खाया जाता है। अधिक स्वाद लेने के लिए इसे नमक के साथ खाते हैं। इस के फल पकने का समय अप्रैल मास है।

बेल—मध्यम वर्ग का कांटेदार पेड़ है। इस के फल का छिलका लकड़ी की तरह सख्त होता है जिस के अन्दर बीजों में चिपका हुवा पीले रंग का गूदा होता है। यह गूदा बड़ा मीठा लगता है। फल २ इंच से ७ इंच व्यास तक का होता है। यह पेड़ मैदानों में तथा पहाड़ियों की घाटियों में उगता है। कहीं २ यह बोया भी जाता है। पके हुवे फल का गूदा बड़ा पौष्टिक होता है। पानी और शक्कर मिला कर इसका शरबत बना कर पिया जाता है। कोई कोई इस से मुरब्बा भी बनाते हैं। यह फल गर्म ऋतु में प्राप्त होता है।

कचनार—मध्यम वर्ग का पतझड़ वाला पेड़ है जिस में सफेद या बैंजनी रंग लिए फूल होते हैं जो कि पतझड़ के पश्चात निकलते हैं। यह पेड़ पहाड़ों में—हिमालय की नीची श्रेणियों में झेलम से पूर्व की ओर लगभग ४,००० फिट ऊंचाई पर अधिकता से होता है और मैदानों में तथा सारे भारत के वनों में पाया जाता है। इसके फूल के कोंपलों की सब्जी बड़ी अच्छी बनती है। इन्हें उबाल कर और दही में मिला कर रायता भी बनाया जाता है। ये कोंपलें बाजार में महंगे भाव बिकती हैं। इन कोंपलों की प्राप्ति का समय मई मास है।

बांस—सारे भारतवर्ष में—विशेषकर मैदानों में और उत्तरी भारत तथा मध्य प्रदेश के निचले पहाड़ों में पाया जाता है। इसके बीज अकाल के समय खाये जाते हैं। कोंपलों का अचार भी बनता है।

जामुन—सर्वदा हरा रहने वाला पेड़ है। उसके फल गोल या एक इंच तक लम्बे होते हैं। इनका रंग बैंजनी होता है। यह पेड़ भारत के कोने कोने में पाया जाता है। इसको सब ही लोग बड़े चाव से खाते हैं। नमक मिला कर खाने में यह और भी अधिक स्वादिष्ट लगता है। इस कारण इसके पेड़ अब वाटिकाओं में भी लगाये जाने लगे हैं। फल जुलाई मास में पकते हैं।

जंगली बेर—छोटा कांटेदार पेड़ या बड़ी झाड़ी होती है जिस में गोल, गूदेदार, नारंगी रंग लिए आध इंच व्यास के फल लगते हैं। इनके अन्दर एक बड़ी गुठली होती है। ये फल खाने में

खट मिट्ठे होते हैं और अक्सर यों ही खा लिए जाते हैं। कोई कोई इन्हें सुखा कर नमक, मिर्च मसाले के साथ कूट कर चूर्ण बना कर भी खाते हैं। अकाल के समय इनका बडा महत्व है। बेरों की खेती भी होने लगी है। खेती करने पर यह ज्ञात हुवा है कि जंगली बेरों से यह बेर अधिक स्वादिष्ट होते हैं और परिमाण में भी अधिक मिलते हैं। खेती द्वारा प्राप्त किए हुवे बेर अधिकतर बाजार में बेचे जाते हैं। यह शरद ऋतु का फल है।

बिच्छू बूटी—साधारण सीधी खड़ी रहने वाली बूटी है जिसकी ऊँचाई ३ से ५ फिट तक होती है। इसके पत्ते बड़े मोटे होते हैं जिन में कि चुभने वाले बाल होते हैं। पत्ते यदि नंगे बदन पर छू जाय तो जलन कर देते हैं। यह बूटी हिमालय के उष्ण कटि-बन्ध में काश्मीर से आसाम तक २,००० से १२,००० फिट की ऊँचाई तक होती है। इसकी टहनियों के ऊपरी भागों की पत्तिया बड़ी मुलायम होती हैं। उनका साग बना कर खाया जाता है जो बडा स्वादिष्ट लगता है। साग बनाने से पहले पत्तियों को दो बार उबाला जाता है और पानी फेंक दिया जाता है। अकाल के समय पर्वत वासियों का यह सर्वप्रिय भोजन है। वर्षा ऋतु में अधिक मिलती है।

आवला—मध्यम वर्ग का पेड़ है जिस में गोल, पीले ½ से ¾ इञ्च व्यास वाले गूदेदार फल होते हैं जिन के अन्दर गुठली होती है। यह पेड़ प्राय भारत के सभी बनों में—विशेषकर सूखे भागों में पाया जाता है। इसके फल जो खाने में खट्टे होते हैं—मुरब्बे आदि बनाने और दवाइयों में काम आते हैं। आंवले में विटामिन सी अधिक मात्रा में होता है। राडमीर पानी के अभाव में इसका रस चोषण करते हैं। इस फल की प्राप्ति का समय आरम्भिक ग्रीष्म ऋतु है।

ढेऊ—बड़ा पेड़ होता है जिसके फल दो से ४ इंच व्यास वाले होते हैं कच्चे फल हरे रंग के होते हैं जो पकने पर पीले हो जाते हैं। एक पेड़ से लगभग १० मन फल प्रति वर्ष प्राप्त हो जाते हैं। कुमाऊ की बाहरी पहाड़ियों और आसाम बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा दक्षिणी भारत के पश्चिमी घाट में होता है। कच्चे फलों का अचार बनता है और पके फल का गूदा बडे चाव से खाया जाता है। बीज दस्तावर होते हैं। यह फल जुलाई मास में पकता है।

आलूबुखारा—मध्यम वर्ग का पेड़ है जिसके फल ½ से ¾ इंच तक व्यास के होते हैं रंग पकने पर पीला होता है और इस में कुछ खटास होता है। यह पेड़ जौनसार, टेहरी में तथा ८,००० फिट की ऊँचाई तक के भागों में होता है। यों तो यह बागों में भी लगाया जाता है पर जंगलों म बहुतायत से मिलता है। ग्रीष्म ऋतु में पकता है।

ऊपर कुछ मुख्य मुख्य वस्तुओं का वर्णन किया गया है। हमारे वनों में एक दो नहीं सैंकड़ो फल, फूल, पत्तिया तथा जडे ऐसी हैं जिन्हें हम सहायक खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग में ला सकते हैं और खाद्य संकट को किंचित टाल सकते हैं।

★

ओनम्

श्री हरिदत्त वेदालंकार

ओनम् केरल (मलाबार) का सब से बड़ा राष्ट्रीय पर्व है। उत्तर भारत मे जिस उत्साह से दिवाली और दशहरा मनाये जाते हैं बंगाल में जो समारोह दुर्गा पूजा के अवसर पर होता है, तामिलनाड में जो धूमधाम पोंगल के त्योहार पर होती है, वही मलाबार में ओनम् के समय दिखाई देता है। इस पर्व को उचित रीति से न मनाने वाला व्यक्ति वहां तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। राजा से रंक तक सभी इसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार मनाते हैं। एक मलाबारी कहावत है कि प्रत्येक व्यक्ति को ओनम् अवश्य मनाना चाहिये, भले ही इस के लिए उसे अपनी सम्पत्ति बेचनी पड़े। यह बड़े खेद की बात है कि हम अपने देश के एक भाग में इतना महत्वपूर्ण समझे जाने वाले त्योहार के सम्बन्ध में बिल्कुल अनभिज्ञ हैं, देश की सांस्कृतिक एकता और अखण्डता सुदृढ़ बनाये रखने के लिए उत्तर और दक्षिण में पारस्परिक सम्पर्क और घनिष्ठ परिचय आवश्यक है।

सागर की गोद मे बसी मलाबार की सुरम्य स्थली में यह पर्व उस समय मनाया जाता है जब वर्षाकाल में होने वाली फसल काट कर घर में भर ली जाती है, इस समय प्रकृति अपने मनोरम रूप में होती है, किसानों के खलिहान अन्न से भरे होते हैं बगीचों में केले फलों से लदे होते हैं। सब ओर प्रचुरता और समृद्धि का साम्राज्य होता है, यह जनता में प्रमोद तथा प्रसन्नता की भावना उत्पन्न करता है। जनता का अपार आनन्द और आमोद ओनम् में मूर्तरूप धारण करता है।

अन्य त्योहारों की भांति ओनम् का बड़ा मनोरंजक इतिहास है। यह मलाबार के उस स्वर्ण युग की स्मृति कराता है जब वहां महाबलि नामक धार्मिक राजा राज्य करता था, उस के शासन में प्रजा बहुत सुखी और सन्तुष्ट थी, वर्षा ठीक समय पर होती थी, धरती माता फसलों के रूप मे खूब सोना उगलती थी, किसी प्रकार का अभाव नहीं था, दैन्य और दरिद्रता का नाम तक अज्ञात था, मलाबार शान्ति और सुख का धाम बना हुआ था। वहां के लोग स्वर्गवासी देवताओं की भांति आनन्द से रहते थे और उन का भोगैश्वर्य उन से भी अधिक बढ़ा चढ़ा था। उस समय स्वर्ग न केवल मलाबार में अवतीर्ण हो चुका था किन्तु उस की सुख समृद्धि इन्द्रपुरी को भी मात करती थी। महाबलि प्रजा पर पिता की भांति शासन करता था, उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होने देता था सारी प्रजा उस से बहुत प्रसन्न थी।

इन्द्र को मलाबार की यह अवस्था देख कर बहुत ईर्ष्या हुई, उस का आसन डोलने लगा, उसे यह चिन्ता हुई कि महाबाल कहीं स्वर्ग पर अधिकार न कर ले। वह विष्णु की शरण में गया और विष्णु ने उसे उपयुक्त अवसर पर सहायता करने का आश्वासन दिया।

यह अवसर भी शीघ्र ही आ गया। महाबलि बहुत धार्मिक और दान करने वाला व्यक्ति था। एक बार उस ने महायज्ञ किया। विष्णु ५ वर्ष के वामन का रूप धारण कर ब्राह्मण बन कर इस समय दान लेने के लिए पहुँचे और उन से तीन पग भूमि की याचना की। महाबलि ने इस मांग को अत्यन्त तुच्छ समझ कर वामन से अधिक भूमि की प्रार्थना के लिये कहा। वामन ने कहा—मेरे लिए यही पर्याप्त है, मैं अधिक लेकर क्या करूं गा? छोटा शरीर है, उसके लिये अधिक भूमि की आवश्यकता नहीं। महाबलि द्वारा प्रार्थना स्वीकृत होते ही वामन ने इतना विराट् रूप धारण किया कि उस ने द्युलोक और पृथिवी लोक को अपने दो पगों से नाप डाला और महाबलि से पूछा

कि तीसरा कदम कहां रखूं । उस ने विस्मित हो कर तीसरे पग के लिए अपना सिर वामन के आगे झुका दिया। विष्णु ने बलि को इस पग से पाताल में भेज दिया और वहीं राज्य करने को कहा।

महाबलि के पाताल जाने पर प्रजा बहुत दुःखी हुई उन्होंने वामन से यह वर मांगा कि राजा महाबलि वर्ष में एक बार ओनम् के अवसर पर पाताल से मलाबार अवश्य आयें ताकि वे उस की यथोचित पूजा कर सकें। केरल में प्रतिवर्ष उन के पुनरागमन की प्रसन्नता में यह पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

यह कथा वामनावतार की प्रसिद्ध पौराणिक कहानी का रूपांतर है किन्तु इस में यह विशेषता है कि महाबलि को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। यह सम्भव है कि इस में आर्यों द्वारा मलाबार विजय की धुन्धली स्मृति हो। महाबलि वहां का स्थानीय राजा था, आर्यों के प्रतिनिधि विष्णु ने छल से उस का दमन किया, प्रजा को अनिच्छा पूर्वक यह परिवर्तन स्वीकार करना पड़ा। किन्तु वह अपने स्वराज्य के स्वर्णिम दिनों और पितृ तुल्य महाबलि को कैसे भूल सकती थी ? उस ने ओनम् द्वारा उस की स्मृति अब तक अक्षुण्ण रखी हुई है। यह भी आश्चर्य की बात है कि उत्तर भारत में जिन दिनों वामन जयन्ती (भाद्रपद सुदि १२) मनायी जाती है, लगभग उसी समय मलयालम पञ्चाग के अनुसार चिंगम् मास (अगस्त–सितम्बर) की २२ वीं तिथि को यह पर्व मनाया जाता है।

इस पर्व पर मलाबार नया रूप धारण करता है। महीना पहले से ही इस की तैयारियां शुरु हो जाती हैं, घरों के फर्श और आँगन प्रतिदिन फूलों से सुशोभित तथा पवित्र चिन्हों से अंकित किये जाते हैं, पर्व से पहले ही घरों की सफाई, लिपाई, पुताई कर ली जाती है। इस दिन दरिद्रतम व्यक्ति भी अच्छे कपड़े पहनता है, बढ़िया भोजन तैयार करता है। इस पर्व को १० दिन तक बड़े आनन्द से मनाया जाता है। बच्चे संगीत प्रतियोगितायें करते हैं, पहलवान अपने विचित्र कर्तबों से जनता का मनोरञ्जन करते हैं और पुरस्कार पाते हैं। विदेश गये हुए व्यक्ति इस पर्व तक घर पर अवश्य लौट आते हैं, परिवारों में सब व्यक्ति नये वस्त्र पाते हैं और स्वादिष्ट पकवान और उत्तम भोजन का आस्वादन करते हैं। सब लोग आपस का वैर विद्वेष भुला देते हैं, इस दिन कलह करना बहुत बुरा समझा जाता है। सर्वत्र प्रेम और प्रसन्नता का साम्राज्य होता है।

महाबलि के स्मरण के लिए उस की पार्थिव मूर्ति बनायी जाती है, उस का पूजन होता है। स्त्रियां स्थान स्थान पर सम्मिलित हो कर भगवान् की भक्ति के गीत गाती हैं।

प्रसन्नता के पूर से भर देने वाले दिन को ही पर्व कहा जाता है. ओनम् वस्तुतः मलाबार का ऐसा पर्व है, इस दिन वहां की आबालवृद्ध जनता अपार आनन्द के पारावार में हिलोरें लेती है।

★

गुरुवर गोखले

श्री गणेश वासुदेव मावलंकर

महामना गोखले जी के प्रथम दर्शन मैंने सन् १९०७ में, सूरत की ऐतहासिक काग्रेस के अवसर पर किए थे। उस समय मैं बी. ए. के प्रथम वर्ष में पढ़ता था। उन दिनों हिंसावादियों के प्रति मुझ में आदर और आकर्षण था। हिंसावादियों की तरह मेरी भी यही मान्यता थी कि मार भगाने के सिवाय अँगरेज लोग भारतवर्ष से निकलने वाले नहीं हैं। तथापि गोखले जी के प्रति मन में उत्कट आकर्षण और आदर था। अतः गोखले जी को प्रत्यक्ष निहारने व उनका भाषण सुनने के लिए मैं आतुर था। इस के सिवाय मैं यह भी जानना और समझना चाहता था कि देश की समस्याओं का समाधान अँगरेजों के साथ चर्चाएँ करके या केवल प्रस्तावों के द्वारा किस प्रकार लाया जा सकता है। इसी लिए मैं सूरत की कांग्रेस में उपस्थित हुआ था। छः-सात दिन के लिए कांग्रेस के कैम्प में प्रातः सायं भाषण होते रहते थे और गोखले जी अपना दृष्टिकोण अनेक व्यक्तियों को अपने भाषणों द्वारा समझाते रहते थे। यह सब कुछ मैं सुनता रहता था। यह सब कुछ सुन कर भी मेरे मन को यह समाधान नहीं मिल सका था कि हिंसावाद का विचार मूलतः अशुद्ध है। परन्तु उस मार्ग पर व्यावहारिक दृष्टि से भारतवर्ष नहीं जा सकता, अतएव गोखले जी की पद्धति अपनानी चाहिए, यह बात मन को भाती थी।

देश-सेवा के विचार ठेठ विद्यार्थी काल से ही मेरे मन में आया करते थे। यह आदर्श भी मुझे रुचिकर नहीं प्रतीत होता था कि केवल परिवार के पोषण के लिए पैसा कमाने में ही जीवन व्यतीत कर देना चाहिए। परन्तु सेवा का क्षेत्र और पद्धति का निश्चय करने में पर्याप्त समय निकल गया। सन् १९१२ में एल. एल. बी. हो जाने पर मैंने गोखले जी की भारत-सेवा-समिति में सम्मिलित होने का निश्चय किया। यह भी सोचा कि वहां तालीम प्राप्त करके गुजरात में उसकी शाखा स्थापित कर, गुजरात में काम किया जाय! परन्तु किन्हीं परिस्थितियों के कारण मैं अपने उन विचारों को कार्यान्वित नहीं कर पाया। यह सब कुछ स्पष्ट करने का केवल यही प्रयोजन है कि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही श्री गोखले जी के प्रति तथा उनके ध्येय व कार्य-पद्धति के विषय में मेरा मनोभाव क्या था?

इसके पश्चात् कई वर्षों बाद, गाँधी जी के भारत में आ जाने के अनन्तर (सन् १९१५) अल्प समय में ही मुझे यह विश्वास हो गया कि अहिंसा के मार्ग से ही देश को सच्ची स्वाधीनता मिल सकती है। और मैं उसी दृष्टि से गोखले जी के जीवन को, उनके कार्य को और उनकी संस्था को देखने लगा। परिणामतः उनके प्रति मेरी आदर-बुद्धि तात्त्विक रूप में स्थिर हुई। मैं यह बात भी भलेप्रकार समझ गया कि गाँधी जी गोखले जी को अपना गुरु क्यों मानते हैं।

❀ ❀ ❀

दिवंगत श्रीनिवासशास्त्री जी गोखले जी के सुयोग्य और अनन्य शिष्य थे। वर्षों तक उन्होंने गोखले जी के साथ देश सेवा का कार्य किया था। शास्त्री जी जैसे समर्थ मनीषी द्वारा दिए गए भाषणों और लिखे गए लेखों द्वारा गोखले जी की जीवन-साधना का सुन्दर, सुस्पष्ट और तादृश चित्रण इस ग्रन्थ द्वारा प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक तथ्य प्रामाणिक और अनुभव-जन्य है। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। शास्त्री जी स्वर्गीय गोखले जी के शिष्य होने पर भी उनके अन्ध-अनुयायी नहीं थे। भारत-सेवा-समिति के उनके सहकर्मी सदस्यों (श्री गोपाल कृष्ण देवधर, श्री एन० ए० द्रविड़, श्री हृदयनाथ कुंजरू, श्री नारायण मल्हार जोशी आदि) ने अपने गुरु भाई गांधी जी के प्रति सम्मान और सहानुभूति होने पर भी

कार्य शैली की भिन्नता के कारण, उनको सभासद् के रूप में अस्वीकार करने का निर्णय किया था। इसी से हम समझ सकते हैं कि शास्त्री जी तथा उनके सहकर्मियों की स्वतन्त्र बुद्धि कितनी जागृत रहती थी। इस प्रकार के शास्त्री जी द्वारा दिए गए भाषणों व लिखे गए लेखों में अन्ध-भक्ति या अन्ध-पूजा वृत्ति सर्वथा नहीं हो सकती। उनके द्वारा तो हम इस बात का वास्तविक विवरण उपलब्ध होता है कि एक सच्चे देशभक्त समर्थ समीक्षक और स्वाधीन विचारक को गोखले जी का जीवन कैसा प्रतीत हुआ है।

मेरा विश्वास है कि जीवन पर्यन्त अपने आचरण द्वारा गोखले जी ने जीवन का जो आदर्श और जो कार्य प्रणाली हमें बताई है, उसे हमें सदा लक्ष्य में रखना चाहिए। उसी में देश का कल्याण है। आन्तरिक (राष्ट्रिय) दृष्टि से तथा आन्तर-राष्ट्रिय दृष्टि से जो परिस्थिति हमारे देश की वर्तमान समय में है उस के लिए वह आदर्श और वह कार्य प्रणाली हमारे लिए व्यवहार योग्य है। वे ध्येय और उनकी प्राप्ति के उपाय इस ग्रन्थ में भले प्रकार बताए गए हैं। पुरानी बातों का इस नए जमाने में क्या काम है? इस विचारणा से इस ग्रन्थ को न जाँच कर, उपयोगी और अमूल्य सिद्धान्तों और मार्ग दर्शनों के लिए हमें इस ग्रन्थ का अनुशीलन करना चाहिए।

❀ ❀ ❀

गोखले जी ने अपने जीवन का ध्येय क्या रखा था उसे हम उनके आचरण से सहज में ही जान सकते हैं। अट्ठारह वर्ष की उगती उम्र में सन् १८८४ में बी० ए० की पदवी प्राप्त करके सहज में ही प्राप्त होने वाली बढ़िया नौकरी, प्रतिष्ठा और वेतन की उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की प्रत्युत आजीवन देश-सेवा का पवित्र व्रत लेने का निश्चय किया। शिक्षा यज्ञ के महान् और रचनात्मक कार्य को उन्होंने अपने हाथ में लिया। वहाँ का सेवा-काल पूर्ण करके वे मरण पर्यन्त देश-सेवा यज्ञ में जुटे रहे। 'सेवा, सेवा और सेवा' यही उनका परम ध्येय मन्त्र था। वे गुणों के पुञ्ज थे, जिन में से अनेक गुणों की आज देश में कमी है। स्वाभाविक नम्रता, वरिष्ठों के प्रति सन्मान वृत्ति, अनुशासन सादगी, औदार्य निःस्वार्थ ध्येय के प्रति प्रोज्ज्वल उत्साह, दूरदृष्टि, व्यवहार वेदिता और आध्यात्मिक वृत्ति आदि गुण उन में अच्छी मात्रा में प्रकाशित हो उठे थे।

अपने सार्वजनिक जीवन के लिए हमें किन वृत्तियों की आवश्यकता है उन का संकेत हम इस ग्रन्थ में मिलता है। वे एक स्थान पर कहते हैं— **'जिस पवित्र भावना से धार्मिक अनुष्ठानों को पूर्ण किया जाता वैसी ही भावना से देश सेवा के लिए अपना उत्सर्ग करने वाले व्यक्तियों की आज आवश्यकता है।'**

युवकों को लक्ष्य करके वे कहते हैं— **'जीवन की अन्य सब प्रवृतियों को छोड दो! बस स्वदेश-सेवा का काम हाथ में उठा लो! यदि हम अपने वैयक्तिक कार्यों में ही रचे पचे रहेंगे और केवल अपने निजू हितों की ही चिन्ता करते रहेंगे तो फिर हमें यह शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं कि देश के कार्य पूरे वेग से नहीं चल रहे।'**

गोखले जी की अनेक महत्वाकाङ्क्षाओं में सब से बड़ी आकाङ्क्षा यह थी—देश के आशास्पद युवकों को अच्छी मात्रा में चुन चुन कर उनको सार्वजनिक सेवा यज्ञ के सन्यासी बनने के लिए दीक्षित करना। वर्तमान समय में तो यह आवश्यकता सहस्रगुणी अधिक है। सत्ता, अधिकार मान प्रतिष्ठा और प्रभाव की लहरों में आनन्द मनाने के मुकाबले में यह

आकांक्षा कितनी स्फूर्तिदायक है। यदि हम आज के युवकों को तैयार करने में चूक गए तो भविष्य निरा अन्धकारमय रह जायगा।

सार्वजनिक हित की समस्याएँ और वैयक्तिक मन्तव्यों के विषय में बोलते हुए गोखले जी कहते हैं—

'आंतरिक श्रद्धा के विषयों को छोड़ कर, जहां सामूहिक रूप में केन्द्रित प्रयत्न की आवश्यकता हो, वहां पर, जनता को अपने अग्रेसरों के निर्णय का अनुसरण करना ही चाहिए! सार्वजनिक जीवन मे अनुशासन का पालन अवश्य होना चाहिए।'' आगे चल कर वे कहते हैं— 'अग्रेसरों के दोषदर्शन का अर्थ यही है कि हमारे सार्वजनिक जीवन में सहकारिता का अभाव है।' इस कड़वी सचाई का अनुभव खेद के साथ हम इस समय भी कर रहे हैं।

देश के उत्कर्ष साधन के लिए हमें क्या करना चाहिए इसके लिए वे कहते हैं—

'मधुर स्वभाव वाले बनो! भूतकाल से संबद्ध अपनी शृङ्खला को हठात् मत तोड़ डालो! उग्र और आक्रमक उपायों तथा अविचारी सूचनाओं की भर्त्सना करो।'

कितने बुद्धिमता युक्त, व्यावहारिक और मार्गदर्शक हैं ये उद्गार! वे चरित्र निर्माण पर बल देते हैं और राष्ट्र-निर्माण के आधार के लिए न्याय और प्रेम भाव का आग्रह रखते हैं। विचारों के पारस्परिक आदान प्रदान और वादानुवाद से ही कार्य सिद्ध हो सकता है; हिंसा और उग्रता के काम नहीं बनता। इस तत्त्व को समझाते हुए वे कहते हैं—**विश्व के इतिहास ने हमें बता दिया है कि हिंसा और हत्या का अवलम्बन किए बिना गंभीरतापूर्वक सतत आंदोलन के लिए पूरा अवकाश है।'**

गुप्त आन्दोलन की भी वे भर्त्सना करते थे। स्पष्टतया से कहते हैं कि गुप्तता से ही शंका उत्पन्न होती है। सत्य और अहिंसा के पुजारी गांधी जी अपने को गोखले जी का शिष्य क्यों मानते थे— इसका मर्म हम गोखले जी की इस शिक्षा से समझ सकते हैं।

'विचार में औदार्य और आचार में मृदुता'— यह था उन का ध्यानमन्त्र! इस मृदुपन का अर्थ यह था कि अशक्य कार्यों के लिए अथवा अतिशय दूर की आशाओं के लिए व्यर्थ की टक्करें नहीं मारनी चाहिये। प्रत्युत मनुष्य को यह चाहिए कि वह हाथ के सामने पड़े हुए कार्य को उठा ले और उसे समता और सुसम्वादिता के साथ विकास की स्वाभाविक शैली से शनैः शनैः पूर्ण करता जाय।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'— गीता के इस तत्वज्ञान को गोखले जी ने अपने जीवन मे उतारा हुआ था। इसी लिए अपने प्रयत्नों द्वारा प्राप्त सफलता से वे हर्षोन्मत्त नहीं होते थे और प्रयत्नों के फलीभूत न होने पर वे विषाद से हतप्रभ भी नहीं होते थे। अपने एक पत्र में उन्होंने अपने सहकर्मियों को लिखा था—

'अपनी निष्फलताओं से भी हम सेवा कर सकते हैं। जो अधिक सुभागी होते हैं, वे अपनी विजयों से सेवा करते हैं।'

सेवा की क्या ही सुन्दर भावना है। कैसी निरीहता, त्याग-वृत्ति और नम्रता है। स्वाधीन भारत में तो इन सद्गुणों की अधिक से अधिक आवश्यकता है। वे सदा सद्भाव, बन्धुता और शांति के इच्छुक थे। उन का यह विश्वास था कि सफलता का रहस्य *अतमार्गिता में नहीं, अपितु स्वर्णिम मध्य-मार्ग में* निहित है अर्थात् समाधान-वृत्ति में ही साफल्य और शांत निहित है।

❀ ❀ ❀

जनता की ओर से कार्य करने वाले व्यक्तियों को सदा ध्यान में रखने योग्य एक बात का संकेत करना इस प्रसंग में उचित प्रतीत होता है। गोखले जी का युद्ध तो परदेशी सरकार के साथ था, वे विदेशी लोगों

के हाथ से सत्ता लेना चाहते थे। तत्कालीन सरकारी तन्त्र का लक्ष्य प्रजा के हितों का विरोधी था। तथापि गोखले जी ने कहा था—

सरकार की प्रतिष्ठा को एक मूल्यवान् पूँजी समझना चाहिए। इस लिए मैं यह नहीं चाहता कि उसे यदा तदा अस्थिर बनाया जाय।'

उस समय तो हम सब सरकार का सामना करने में एकमत थे। तथापि देश में शासन, सुव्यवस्था और शांति की बनी रहे और अराजकता न हो जाय इस के लिए वे सरकार की प्रतिष्ठा की रक्षा करते थे। उस पर प्रहार नहीं करते थे। आज जब हम स्वाधीन हो गये हैं, और अनेक विचार-प्रणालियों को मानने वाले हैं, तब हमें सरकार की उस प्रतिष्ठा को अधिक मूल्यवान् सम्पदा समझना चाहिए। कोई भी पक्ष सरकार बनाए, हमें उस की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। क्योंकि यदि देश में विधि (कानून) सुव्यवस्था और शांति न होगी तो विनाश के सिवाय और क्या आयेगा ?

❀ ❀ ❀

गोखले जी सत्य के पुजारी थे। अतः वे दल-बन्दी आदि से दूर रहते थे। वे इस बात का सदा ध्यान रखते थे कि मतभेद वालों से किसी प्रकार अन्याय न हो जाय। वे अपनी भूलों को वीरता और खुले हृदय से स्वीकार करते थे। इसी कारण वे अपने चहुँओर निष्ठावान् कार्यकर्त्ताओं का एक अच्छा मंडल बना कर पाये थे।

गोखले जी के जीवन-कार्य का सम्पूर्ण मूल्यांकन करना शक्य नहीं। परन्तु उन की साधना की दो प्रधान बातें सब के लिए सदा पथ-प्रदर्शक हो सकती हैं। —

(१) राजनीतिक विषयों में, या राज्य के विधान में ही सुधारणा हो जाय इतना ही पर्याप्त नहीं। प्रत्युत समाज का सर्वाङ्गीण पुनर्विधान होना चाहिए। इसी लिए भारत सेवा-समिति के उद्देश्यों को उन्होंने बहुत विशद रक्खा था। प्रथम उद्देश्य था— 'राजनीतिक तालीम और राजनीतिक आंदोलन के लिए मनुष्यों को दीक्षित करना।' इस उद्देश्य को विशद बना कर—भारतवर्ष की सेवा के लिए राष्ट्रीय सेवकों को तालीम देना' इस प्रकार कर दिया। और हम देखते हैं कि इस विशाल दृष्टि से ही राज-नीतिक, सामाजिक और आर्थिक आदि विविध क्षेत्रों में काम करने वाले माननीय श्री निवासशास्त्री, श्री गोपाल कृष्ण देवधर, श्री अमृतलाल ठक्कर (ठक्कर बापा), श्री नारायण मल्हार जोशी और श्री हृदय-नाथ कुञ्जरू जैसे अनेक कर्मठ सेवकों की मंडली उन्होंने बनाई थी। और प्रत्येक का स्वभाव और कार्य का झुकाव भिन्न-भिन्न होने पर भी एक संस्था के छत्र के नीचे एक अविभक्त और सुसंगठित रूप में देश की सर्वाङ्गीण सेवा का कार्य हो सका है।

(२) दूसरी अतिशय महत्व की बात—जिस के विषय में गोखले जी से पूर्व और उन के पश्चात् हमारे किसी देशनायक ने कोई सुगठित प्रयत्न नहीं किया है—यह है कि किसी भी सामूहिक कार्य के लिए एकाध नेता समय समय पर स्फूर्ति और प्रेरणा दे कर कार्यकर्त्ताओं को कार्य के लिए आकृष्ट कर सकता है, परन्तु उस के द्वारा काम का सातत्य और परम्परा नहीं रहती। इस दृष्टि से भारत सेवा-समिति अपने जैसी अकेली संस्था है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी जी के पास योग्य कार्यकर्त्ता तो अच्छी मात्रा में एकत्र हो सके थे परन्तु अपने अग्रणी के प्रति निष्ठा के सिवाय उन को आपस में सुसम्बद्ध रखने वाला कोई प्रेरक बल उन में नहीं था। उस

प्रेरक तत्व के अभाव में पारस्परिक सहिष्णुता और सहयोग की भावना विकसित नहीं हो पाई। फलतः व्यक्तिगत रूप में प्रत्येक व्यक्ति के बहुत ऊँचा और गुणशाली होने पर भी संस्था के संगठन में वांछित ऐक्य तथा तेज नहीं प्रकट हो सका। भारत-सेवा समिति के सदस्यों में प्रत्येक का मूल्य भले ही उन की योग्यता और क्षमता के अनुसार आँका जाता हो, परन्तु सब सदस्यों के मन में यह भावना और अनुभूति बहुत प्रबल रही रहती है कि हम सब एक ही प्राणवान् शरीर के अवयव हैं—हम इस समष्टि के सुनयोजित और सुसंगठित अङ्ग हैं। वे सब इस आत्मीयता और सर्वोदय की मंगल-भावना से अपना कार्य करते आ रहे हैं। इसी कारण संस्था के जीवन में कभी घर्षण की परिस्थिति नहीं आई और संस्था एक मन, एक प्राण और सहयोग से टिकी रही। सब के कार्यों का मूल्यांकन समान रूप से होता रहा और इस प्रकार श्री देवधर जैसे समर्थ समाज-सेवक, श्री ठक्कर बापा जैसे मानवतावादी और श्री नारायण मल्हार जोशी जैसे श्रमजीवियों के समुद्धारक तथा अन्य अनेक कार्यकर्त्ता इस संस्था में अपने को भले प्रकार सम्मिलित कर सके और संस्था अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों को चला सकी।

❀ ❀ ❀

भारत-सेवा-समाज का रूप एक 'आश्रम' का सा है। भारत की सेवा ही इस का ध्येय है। साथ ही इस के लिए राष्ट्रिय-सेवकों को दीक्षित करना भी उस का कार्य है। इस पवित्र कार्य के लिए आने वाले व्यक्ति को बड़ी कठोर कसौटी की जाती है। यह समस्त प्रतिज्ञा इस ग्रन्थ के छठे प्रकरण में दी गई है। प्रत्येक देश हितैषी को प्रतिदिन यह प्रतिज्ञा एक बार पढ़नी चाहिए और उसे अपने आचरण में ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रतिज्ञा की सभी धाराएँ महत्त्वपूर्ण हैं। उन में कुछ एक तो यहां पर अंकित करने योग्य हैं।

(क) मेरे मन में देश का स्थान प्रथम रहेगा। मुझ में जो कुछ उत्तम तत्व होगा उसे मैं देश की सेवा के लिए अर्पण करूंगा।

(ख) देश की सेवा करते हुए मैं किसी भी भी प्रकार के व्यक्तिगत लाभ को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करूंगा।

(ग) मैं समस्त भारतीयों को अपना बन्धु समझूंगा। मैं उन सब की उन्नति के लिए, धर्म और जाति का भेदभाव रखे बिना, कार्य करूंगा।

(घ) मैं अपने वैयक्तिक जीवन को पवित्रतापूर्वक व्यतीत करूंगा।

(ङ) मैं किसी भी प्रकार के वैयक्तिक झगड़ों टंटों में नहीं पड़ूंगा।

ऐसी भावना वाला सेवक सब यदि देश को प्राप्त हो जाय तो हम पुनः जगत् में सर्वोच्च स्थान पर पहुँच जॉय। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि इस सद्ग्रन्थ के पारायण से इस प्रकार के सेवक बनने की प्रेरणा हम सब को प्राप्त हो।

महामना श्री निवासशास्त्री जी की वाणी और लेखनी के प्रसाद-रूप इस ग्रन्थरत्न को भारत-सेवा-समाज के पुराने सदस्य श्री भाई कृष्णदास चित्तलिया ने गुजराती वाचकों के लिए सुप्राप्य कर दिया है, अतः वे अभिनन्दन के पात्र हैं। ('गुरुजी गोखले' नामक गुजराती पुस्तक की प्रस्तावना से)।

अनुवादक—
शंकरदेव विद्यालंकार

समस्यात्मक बालक

श्री कुंजबिहारी सिंह[1] एम ए

प्रजातन्त्रीय शासन की नींव नागरिकों की सहिष्णुता सहयोग तथा सक्रियता पर निर्भर है। असहिष्णु उद्धत तथा निष्क्रिय व्यक्ति न केवल शासन में ही बेमेल बैठता है, वरन् समाज भी उस से व्यथित होता है। इतना ही नहीं, उसका अपना जीवन भी दुःखो और आपदाओं की कहानी बना रहता है।

भावी नागरिक मा की गोद में ही बनता है जीवन के प्रथम पाच वष मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण वर्ष हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्राउड के अनुसार छोटा सा मानव प्राय अपने जीवन के चौथे या पाचवे वष में ही पूर्ण बन जाता है (इण्ट्राडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-एनेलिसिस, १६२१, पृष्ठ २६८)' बच्चा अपने माँ बाप की छत्र छाया में घरेलू वातावरण के अन्दर ही भावी जीवन के लिए शारीरिक मानसिक तथा भावात्मक शक्तियों का सग्रह करता है। कौन ऐसा बाप होगा जो बच्चे के प्रारम्भिक जीवन का बिगाड़ना चाहेगा, कौन ऐसी मा होगी जो बच्चे के जीवन के सुखद् स्वप्न को धूमिल करना चाहती हो? परन्तु यह एक तथ्य है कि ६० प्रतिशत से अधिक मा बाप अपने बच्चे के भावी जीवन का विषाक्त कर रहे हैं। वे राष्ट्र का इस निधि का न केवल स्वय विनाश कर रहे हैं वरन् वे एक ऐसी परम्परा का निर्माण कर रहे हैं जो राष्ट्र तथा मानवता की जड़ ही खोदने वाली है।

लोगों को कितना आश्चर्य होगा यदि उन्हे मालूम हो कि वे हृदय से अपने बच्चों को नहीं चाहते। बहुत से मा बाप बच्चों के कुरूप तथा हीन बुद्धि के कारण उन से घृणा करते हैं अनेकों उन के कारण अपने दाम्पत्य-प्रेम में कमी पाते देख ग्लानि करते हैं कभी कभी आर्थिक परिस्थितिया उन्हें हमारे लिए समस्या बना देती हैं। हम अपने जीवन की अनेको उलझनों से तग होने के कारण बच्चों की उत्कण्ठा तथा आवश्यकता की ओर ध्यान भा नहीं देते हमारा आतरिक अचेतन मन बच्चे से उदासीन है भले ही बाहरी तौर पर उन से हम बधे रहें अनेकों प्रमी मा-बाप अपनी अज्ञ नता से भो बच्चों के जावन को नष्ट करते हैं।

प्राय ऐसी घटनाए भा घट जाती हैं जिनका बड़ा बुरा प्रभाव बालक के मन के ऊपर पड़ता है पिता का नौकरी के लिए बाहर जाना, माँ का चिकित्सा-गृह में रहना, कभी दोनों या एक का मृत्यु गृह कलह बच्चे का गैर कानूनी ढग से पैदा होना, दूसरी मा या बाप के साथ रहना, बार २ वातावरण का परिवतन ऐसी दशाए हैं जो बालक के व्यक्तित्व को विशृखलित करती हैं। उसका अपना जीवन रहस्यों से भरा रहता है जिनको खोलने में उसकी बुद्धि असमथ रहती है।

समस्याए—बच्चों क प्र कृतिक विकास की अवस्थाए होती हैं। वह इनके लिए निश्चिन्तता चाहता है सुरक्षापूर्ण अपनत्व की भावन वाले कुछ भी करने पर अपनत्व का भावना न अ ने देने वाले तथा एक स्थिर परिस्थिति वाले वातावरण में बालक सुखी रहता है। बच्च क विकास पर विचार करते समय हमारा ३ बातों की ओर ध्यान जाता है (१) आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण, (२) उनका स्वाभाविक, शारीरिक, मानसिक तथा भावात्मक शक्तियाँ तथा (३) उनका व्यक्तित्व वातावरण पर उनकी प्रतिक्रिया तथा कठिनाइयों और विपत्तियों का उनके जावन पर प्रभाव

आर्थिक आवश्यकता पूर्ति के साथ ही साथ बच्चों को एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक वातावरण भी मिलना चाहिए। उसे ऐसे व्यक्ति चाहिए जो व्यक्तिगत रूप से

[1] बाल मनोविज्ञान के पण्डित। राजकीय शिक्षक विद्यालय मे अध्यापक हैं।

उस पर ध्यान रखे, उस के साथ प्रेम तथा सहानुभूति रखे, उस की आवश्यकताओं को समझे, उस की बीमारी में चिन्तित हो तथा प्रसन्नता मे प्रसन्न रहे। बालक को अपने लिए खेल का सामान मिलना चाहिए; साथ ही उस की अवस्था के अनुकूल साथी भी। उसे खेल के लिए स्वतन्त्र समय मिलना चाहिए तथा उस की प्रगाढ़ जिज्ञासा की तृप्त करने वाला भी कोई हो। बच्चा मा बाप से प्रेम, सहायता, शान्ति तथा सुख चाहता है।

बिना पिता का पुत्र न केवल बाह्य-नियन्त्रण से दुःखी रहता है, वरन् उस में आतरिक नियन्त्रण की भी कमी रहती है। उसे 'बाप की आकृति' पर अपने को बनाने का अवसर नहीं मिलता, अपने मस्तिष्क में उसे उचित 'अहं' की भावना नहीं आ पाती और इस प्रकार वह अच्छी नियन्त्रक शक्ति के निर्माण की प्रेरणा से वञ्चित रहता है। तब वह प्रेम और नियन्त्रण दोनों के लिए मा का मुख देखता है।

चतुर माताएं बच्चों के विकास में बड़ी ही सहायक होती हैं परन्तु प्रायः वे स्वयं अत्यधिक भावुक सी हो जाती हैं। बाप के अधिक कठोर होने का भय रहता है और मा के अधिक नरम। कठोरता तथा अधिक प्यार दोनों लड़के के विकास में बाधक बनते हैं। उस के व्यक्तित्व निर्माण में समस्यायें आ जाती हैं। लड़का स्वयं समस्यात्मक बन जाता है।

परिणाम—कुछ लड़कों की शारिरीक, मानसिक तथा भावात्मक शक्तियां इतनी दृढ़ होती हैं कि बाह्य-आक्रमणों का उन के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु अधिकांश बालकों के ऊपर उन की भीषण प्रतिक्रिया देखी गई है। अधिक कठोरता के साथ पले हुए बालकों के ऊपर दो प्रकार के प्रभाव पड़ सकते हैं—यदि उन में अन्दर से प्रबल विद्रोह है तब तो उन का भी व्यवहार कठोर हो जायगा; यदि आतरिक प्रतिक्रिया क्षीण है तो इस प्रकार का बालक चिन्तित तथा उदास सा बन जायगा।

पहले प्रकार के विद्रोही बालकों में उद्धतपन आ जाता है। उसे अपने प्रति घृणा से भरा संसार भी घृणित मालूम पड़ता है। प्रेम के अभाव से स्वयं दुःखित हो वह अपने मा बाप तथा परिजनों को भी अभाव की दशा में छोड़ना चाहता है। वैसे, भोजन तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं पर हाथ लगाने लगता है। अपने साथियों के सामने कमी महसूस करने पर वह उन के कागज कलम, दावात आदि चुराना आरम्भ कर देता है। बहुत बड़े २ घरों के बालक इस प्रकार के व्यवहार करते देखे गए हैं।

उद्धत बालक अपने सम्पर्क मे आने वालों की प्रतिक्रिया की जाच के लिये भी क्रियाशील रहता है। जब दंड के भय से पीड़ित होने लगता है तो असत्य-भाषी बनने लगता है। भांति २ की काल्पनिक दशाओं का वह निर्माण करता है और असत्य के कृत्रिम वातावरण में प्राप्त सफलता से उसे आनन्द मिलने लगता है।

मा बाप से घृणा तथा अधिक चिन्ता के कारण लड़के बिस्तरे पर निद्रा में पेशाब या टट्टी तक करने लगते हैं। बाप-मा अधिक दण्ड देते हैं, बच्चा और भी अपनी आन्तरिक प्रेरणा से बाध्य हो जाता है।

दूसरे प्रकार के बालकों पर मा-बाप के तिरस्कार की प्रतिक्रिया स्वरूप चिन्ता तथा हतभावना की की उत्पत्ति होती है। बच्चा अपने को नालायक समझने लगता है। अपने लिए उस के हृदय में धिक्कार तथा लज्जा आती है चिन्ता सम्बन्धी लक्षणों मे पाचन क्रिया के विकार भी पैदा होने लगते हैं। अतिसार, श्राव, मूत्रावरोध की शक्ति में कमी आने लगती है। कभी बच्चा हकलाने लगता है; कभी २ श्वासावरोध के लक्षण दिखाई पड़ते है। उदासी तथा भय की प्रवृत्ति की वृद्धि के साथ ही साथ वह भांति २ के

भयानक स्वप्नों से पीड़ित होने लगता है।

'अपराधियों के जीवन-इतिहास के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि उन में अधिकांश लड़कपन में एक न एक भावात्मक वचन से पीड़ित थे। शिशु अवस्था में इस प्रकार का अभाव एक गम्भीर बात है। कष्टकारक आंतरिक वायु शूल, भूख की पीड़ा, तथा पाचन प्रणाली के विकार के साथ हर एक बुरी चीज का मा के साथ मिलान करने लगता है। शरीर में उत्पन्न होने वाले पदार्थों का बुराई के साथ सहचार करने लगता है। इस कारण उद्धतपन में उनको निकालने तथा चिन्ता के क्षणों में उन को रोकने (कोष्ठबद्धता) की प्रवृत्ति उस में होती है। (अगथा एच बाउली, दि साइकौलोजी ऑफ दि अनवान्टेड चाइल्ड १९४७, पृष्ठ २३)।

जब बच्चे में अभाव की गम्भीर भावना पैदा हो जाती है तो वह सारे जीवन लोगों के अवधान तथा प्रेम का भूखा बना रह सकता है। जीवन भर स्वावलम्बन तथा आत्म-तुष्टि से हीन हो वह परमुखापेक्षी सा बना रहता है। उस में दूसरों को कुछ देने की शक्ति नहीं आपाती, उस में एक असहायपन की अवस्था सी रहती है।

तिरस्कृत बालक की दशा करुणाजनक होती है। प्रौढ़ों के अवधान को वह अपनी ओर खींचना चाहता है परन्तु उस का व्यवहार कृत्रिम, कठोर, अप्रिय तथा थकान पैदा करने वाला होता है। इस से बालक की अप्रियता तथा तिरस्कार में वृद्धि ही होती है।

अनभीष्ट बालक कभी २ अपने को इतना वहिष्कृत सा महसूस करने लगता है कि अपने ऊपर उद्धत हो जाता है और ऐसे अनेक बालक आत्म-हत्या के असफल प्रयत्न करते देखे गए हैं। अनेकों बचपन में हिंसा पर सदैव उतारू से रहते हैं। दूसरों की जान लेने वाले अनेक बालकों की कथाओं से हम परिचित हैं।

घर में दुखी बालक मा-बाप की सन्तोषजनक प्रतिमा नहीं बना पाता। उस के मस्तिष्क में इस प्रकार अपने आचरण-निर्माण के लिए कोई आदर्श नहीं रहता, चूंकि उसे कहीं भी अच्छाई तथा दया का स्वयं अनुभव न हुआ, इस कारण वह इन से परिचित भी नहीं रहता। ऐसा बालक एकान्तप्रिय खिन्न तथा कटुतापूर्ण होता है। उस का स्वभाव सन्देहपूर्ण होता है। वह दूसरों से हिलमिल नहीं सकता। उस में सहयोग का अभाव रहता है।

मनुष्य अन्तनिरीक्षण द्वारा अपने चरित्र की उस कमी को स्वयं महसूस कर सकता है, जो लड़कपन में के किसी अभाव के कारण उस में आ गई थी। भावों का हमारे जीवन मे बड़ा ही महत्त्व है। इन की शिक्षा बिना हमें किसी प्रकार का आनन्द नहीं मिल सकता, न हम दूसरों के जीवन को सुखी बना सकते हैं। दुःखी तथा सतप्त समाज, विश्रृंखल तथा निर्बल सरकारें ऐसे ही लोगों से बनती हैं। बालकों के जीवन का अध्ययन आज की सब से बड़ी समस्या है। आवश्यकता है कि इस ओर हमारा ध्यान जाय। प्रयोग तथा अध्ययन से ही हम तथ्यों तक पहुँच सकते हैं।

★

छुप्पन

ऋभु देवता का परिचय

श्री जयपाल[1]

ऋग्वेद में जिस प्रकार अग्नि-मित्र-अश्विनौ आदि देवों का वर्णन आता है, उसी प्रकार एक प्रकरण ऋभु देवता का भी आता है। इन के विषय में पण्डितों के विभिन्न विचार हैं। सायण तथा अन्य पौराणिक भाष्य-कारों ने इन्हें देवता विशेष कह कर ही छुट्टा पाई है। हम अपने इस छोटे से लेख में यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि वस्तुतः ऋभु देवता कौन हैं।

देवता शब्द का अर्थ होता है दिव्य-गुणों वाला व्यक्ति। जिस पुरुष में सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि दिव्य गुण हों वही देवता है। और अधिक स्पष्ट समझने के लिए जो व्यक्ति किसी काम में प्रधान होता है उसे हम देवता कह सकते हैं। जिस प्रकार किसी टीम में जो उत्तम खिलाड़ी होता है वह नायक कह-लाता है उसी प्रकार वेद में भी जिस के लिए कोई सूक्त कहा जाता है वह उस सूक्त का देवता अथवा नायक कहलाता है। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में ऋभुओं को देवता कहने का अभिप्राय किसी मानवेतर विचित्र चीज से न हो कर दिव्य-गुणों वाले व्यक्तियों से ही है। ऋक् में ही ग्यारह स्थानों पर 'नृ' शब्द और ६ स्थानों पर 'सुहस्ता' शब्द ऋभुओं के विशेषण रूप में आता है। ऋभुओं के मानवेतर जीव न होने में सब से अधिक अकाट्य प्रमाण (ऋक्० १-११०-४) में आता है, वह इस प्रकार है—

'विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तोऽमृत-त्वमान शुः।'

यहां कितना स्पष्ट लिखा है 'मर्तासः सन्तः' अर्थात् वे मर्त्य हैं मरण-धर्मा हैं। ऋभुओं के मर्त्यत्व को सायण ने भी स्वीकार किया है। वह (ऋक्० १-२०-१) की व्याख्या करते हुए लिखता है—

'ऋभुओ हि मनुष्याः सन्तस्तपसा देवत्व प्राप्ताः।'

यहां भी मनुष्याः सन्तः स्पष्ट कह दिया गया है।

यहां एक शंका हो सकती है कि 'अमृतत्वमानशुः और 'देवत्व प्राप्ता' आदि से स्पष्ट पता चलता है कि ऋभु बाद में देवता बन गये, उन्होंने अमृतत्व को प्राप्त कर लिया। परन्तु यह असम्भव है, जो चीज एक बार पैदा हो गई, उस का नाश अवश्य होगा, वह अमर कैसे हो सकती है? आध्यात्मिक दृष्टि से तो भले ही कोई अमर हो जाए, पर भौतिक दृष्टि से अमर नहीं हो सकता। राम और कृष्ण आज हमारे बीच में विद्यमान नहीं हैं परन्तु उनकी अमर आत्मा आज भी हिन्दुओं के हृदयों को प्रभावित कर रही है। राम और कृष्ण अमर हैं किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से न कि भौतिक दृष्टि से। ऋभुओं के अमृतत्व का भी यही अभिप्राय है। उन्होंने समाज के हित के लिए ऐसे उत्तमोत्तम कार्य किए हैं कि उनका नाम अमर हो गया है।

अमृतत्व का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि मनुष्य सुख पूर्वक अपनी सम्पूर्ण आयु का (जो कि वेद के अनुसार सौ वर्ष है) उपभोग कर सके। ताण्डव ब्राह्मण ग्रन्थ में इसी अभिप्राय की एक चीज आती है—

'एतद्वाव मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति।'

इस प्रकार हमने देखा कि ऋभु वस्तुतः मनुष्य ही हैं कोई मानवेतर जीव नहीं।

देवता शब्द पर विचार करने के बाद अब हमें देखना चाहिए कि ऋभु कौन हैं। यास्काचार्य ने निरुक्त में 'ऋभु' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार दी है। 'उरू भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भव-न्तीति वेति।' राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टिकोण से जो लोग समाज में विशेष चमकने वाले होते हैं, सामान्य-जनों से ऊँचे होते हैं उन्हें हम ऋभु कह सकते हैं।

एक शब्द में यदि व्याख्या करना चाहें तो वैज्ञानिकों का नाम ऋभु है। क्योंकि वे अपनी नई-नई कृतियों और खोजों के कारण समाज में एक विशेष शान रखते हैं। वे राष्ट्र के चमकते हुए सितारे होते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जो लोग अपने सत्य ज्ञान के कारण समाज में विशेष आदर सत्कार के पात्र होते हैं वे ऋभु हैं। एक वैज्ञानिक वस्तुतः सत्य के मन्दिर का सच्चा पुजारी होता है। वह दुनिया के सामने यथा सम्भव सभी पदार्थों को सत्य रूप में दर्शाने का प्रयत्न करता है। अतः वैज्ञानिक ऋभु हैं। तीसरे वैज्ञानिकों का अस्तित्व, उनकी स्थिति, सत्य ज्ञान के कारण ही होती है। वैज्ञानिकों के वैज्ञानिकत्व का आधार सत्य-ज्ञान ही होता है। अतः राष्ट्र एवं समाज के मेधावी वैज्ञानिक ही ऋभु हैं।

निघण्टु में मेधावी वाची शब्दों में ऋभु शब्द पठित है। अतः राष्ट्र में जो विशेष बुद्धि वाले लोग होते हैं वे ही ऋभु हैं। इसी प्रकार वेद में (सुहस्ता) कलापूर्ण हाथों वाले, (सुकृत) अर्थात् सुन्दर कृतियां करने वाले, (विद्मनापस) विज्ञान के बल से कार्य करने वाले, (सत्य मन्त्र) सत्य ज्ञान वाले आदि अनेक विशेषण ऋभुओं के लिए आये हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से ऋभु सूर्य की किरणों का नाम है। निरुक्त में आता है कि 'आदित्य रश्मयोऽपिऋभव उच्यन्ते। निरुक्त के इस अर्थ को कुछ मन्त्रों की व्याख्या करते हुए सायण ने भी स्वीकार किया है। उपरोक्त 'ऋभु शब्द की तीनों व्युत्पत्तियों के अनुसार भी सूर्य किरणें अर्थ युक्त सगत ही ठहरता है। सूर्य रश्मियाँ बहुत अधिक प्रकाशमान होती हैं। जिस प्रकार राष्ट्रीय दृष्टि से ऋभु वैज्ञानिक अपने ज्ञानरूपी प्रकाश से संसार में से अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करता है। उसी प्रकार सूर्य भी अपनी रश्मियों से रात्रि के गाढ़े अन्धकार को दूर करता है। आदित्य रश्मियां सत्य के कारण प्रकाशित होती हैं रात्रि के अन्धकार में हमें रज्जु में सर्प एवं स्थाणु में पुरुषादि की भ्रान्ति प्रायः हो जाती है पर सूर्य रश्मि के उस पदार्थ पर पड़ते ही वह हमें अपने असली रूप में दिखाई देने लगता है। तीसरे आदित्य रश्मियों की महत्ता इन के सत्य एवं अटल नियमों के कारण ही है। सूर्य सदा अपने ठीक समय पर ठीक स्थान से ही उदय होता है। उस की गति आदि में आज तक कभी किसी ने कोई अन्तर नहीं देखा। इसी नियमितता एवं अटलता के कारण उस की महत्ता है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्राकृतिक दृष्टि से आदित्य रश्मियां तथा राष्ट्रीय दृष्टि से वैज्ञानिक ऋभु हैं। अब हम देखते हैं कि ये संख्या में कितने हैं। ऋभु संख्या में तीन हैं। ऋभु, विभु और वाज। इन में से ऋभु' शब्द ऋ' गतौ धातु से निष्पन्न हो कर राष्ट्र में गमनशील चीजों का निर्माण करना तथा नए नए आविष्कार कर के सदा राष्ट्र को उन्नति के पथ पर अग्रसर करते रहना इस बात का सूचक है। 'विभु' शब्द व्याप्त्यर्थक हो कर इन की सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान में भी पहुँच है इस बात का परिचायक है। इसी प्रकार 'वाज' शब्द अन्नबल एवं ऐश्वर्यादि अर्थों में प्रचलित है ये वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार करके राष्ट्र के वैभव एवं ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं 'वाज' शब्द इस बात का सूचक है। [गुरुकुल के ५२ वें वार्षिक महोत्सव पर वेद-सम्मेलन में पढ़े गये निबन्ध का अंश]।

★

अध्यात्म मार्ग में तितिक्षा का तात्पर्य तथा प्रयोजन

श्री स्वामी कृष्णानंद

षट् सम्पत्ति का चतुर्थ अंग तितिक्षा है। दम के द्वारा बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की विषय लोलुपतारूपी विक्षेप का निवारण होता है। शम के द्वारा मन के संकल्प-विकल्प रूपी—अन्ततम सूक्ष्म आत्मतत्त्व के साक्षात् में—प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है। उपरति (विधितः संन्यास) से गृहस्थ धर्म विषयक शास्त्रोक्त अनेक बहु-आयास विक्षेप्य आदि साध्य कर्म रूप विक्षेप का अभाव होता है। शीतोष्ण, भूख प्यास आदि शारीरिक तथा प्राण कोष के विक्षेप भी परम लक्ष्य की सिद्धि में महान् अनर्थ का हेतु है, अतः इन की निवृत्ति के लिए तितिक्षा का विधान है। शीतोष्ण आदि द्वन्द्व मनुष्य के अपने अधिकारोचित श्रवण मनन के लिए अपेक्षित जीवन की निरन्तरता में बाधा डालने वाले हैं; उन द्वन्द्वों की सहन शक्ति का नाम तितिक्षा है। इस के बिना श्रवण, मनन आदि की निरवच्छिन्न धारा का चलना असम्भव होता है। यही संन्यासी का एकमात्र कर्तव्य है। तितिक्षा तप का ही दूसरा नाम है।

गीता तथा उपनिषादि में तप की महिमा

तप की महिमा तथा उपयोगिता विषयक योग दर्शन, गीता तथा उपनिषादि शास्त्रों में अनेक वचन आते हैं (छा० २-२३-१, मु० उपनि० १-५, केन ४-८, प्रश्न १-१०, १२; तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगु वल्ली ३-२-६)।

वरुण ने अपने पुत्र भृगु को जो ब्रह्म के उपदेशार्थ उन की शरण में आया था उपदेश किया कि ब्रह्म ही सब भूतों तथा प्राणियों के उत्पत्ति स्थिति तथा नाश का कारण है। भृगु ने क्रमशः चार बार अन्नमय से ले कर विज्ञानमय कोष तक इन कोषों को ही ब्रह्म रूप में ग्रहण करने की भूल की और वरुण ने चारों बार उसे पुनः तप द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा करने का उपदेश किया। भृगु ने तपतपाप्ति तपो्तप्यत, स तपस्तप्त्वा व्यजानात्) तथा तप से उस ने ब्रह्म को जाना—ये वचन इस प्रकरण में पांच बार आए हैं। इस से तप की अत्यन्त निकटतम साधकता सूचित की गयी है। अन्य कई स्थलों (प्रश्न १-२, १-१०) पर आत्मान्वेषण में श्रद्धा, ब्रह्मचर्य तथा तप रूपी साधनों का तथा केवल तप का बार बार विद्या के साधन रूप से कथन है। संसार में भी देखा जाता है कि बिना उग्र तप के कोई लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। तप सब स्थानों पर अनिवार्य होता है; तप से ही तो सच्ची जिज्ञासा की परीक्षा होती है।

तितिक्षा का ब्रह्म विद्या में उपयोग

शरीर के होते हुए सुख दुःख का होना अनिवार्य है। गृहस्थों तथा धनियों के दुःख विरोधी सब उपाय होते हुए भी तथा सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी प्रारब्ध के प्रबल वेग से रोगादि होते ही हैं। परन्तु जिस यति ने धन जन का इस दृष्टि से त्याग कर दिया है कि ये संग्रहोपार्जन, रक्षा आदि विक्षेपों से युक्त हैं और इन विक्षेपों की निवृत्ति इन के त्याग से ही सम्भव है। तथा एकांत जंगल में निर्विघ्न श्रवण आदि करने के लिए जिस ने आसन जमाया है; उस के पास इन शीतोष्ण-सुख दुःख आदि शरीर में अनिवार्य रूप से होने वाले द्वन्द्वों के प्रतिकार के लिए निश्रन्त तितिक्षा के बिना और उपाय ही क्या है? मुमुक्षु के पास तितिक्षा के बिना और कौन रक्षक है। इस कवच को वज्र भी भेदन नहीं कर सकते। इसी को पहिन कर निर्भय-भिक्षु महान् विघ्नों को तृण के समान जीत लेते हैं। अन्यथा पथ भ्रष्ट होने में क्या विलम्ब है? तितिक्षा प्रारब्ध

तथा ईश्वर विश्वास रहित मुमुक्षु की दशा का ही कबीर साहेब ने चित्र खींचा है—

मन के मारे बन गया, बन तज बस्ती मोह
कह कबीर क्या कीजिए, यह मन मनि ना ॥

योग, स्वराज्य, लक्ष्मी सुख, भोग आदि में रहने वाले विघ्नों के कारण इन की सिद्धि तितिक्षा सहन शक्ति के बिना नहीं हो सकती। इस के बिना जिज्ञासु वृक्ष के पत्तों की तरह पग पग पर पतित होता है। जो मुमुक्षु सामान्य शीतोष्ण क्षुधा प्यास आदि को सहन नहीं कर सकता उस की वृत्ति का शरीर की ओर ही सदा व्युत्थान होता रहता है और इन की निवृत्ति की चिन्ता में तथा उपाय में ही उस के समय तथा बल का अपव्यय हो जाता है। उस की बुद्धि श्रवण मनन आदि के सूक्ष्म विषय आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकती। यदि उस को वाचक ज्ञान का होना मान भी लिया जाय तो भी निदिध्यासन तथा निष्ठा तो तितिक्षा के बिना तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः मुमुक्षु यति को असंग, अकेला, स्वतन्त्र, तितिक्षा तथा त्याग से निर्वाह करना चाहिए। उसे सुख जीवी [आरामतलब] नहीं होना चाहिए। संसार में दो दोष ही तो ऐसे हैं जो गृहस्थियों के लिए भी महान् अनर्थ, अनन्त चिन्ता तथा अधर्म का कारण हो रहे हैं—(१) विषय भोग लालसा तथा (२) बैठे बिठाये, दूसरों के परिश्रम के आधार पर, बिना स्वयं परिश्रम किये जीवन यात्रा निर्वाह करने की मलिन पापमय इच्छा। इसी को वैभव और स्वतन्त्रता माना जाता है। यदि यति भी इन्हीं दोषों में लम्पट हो जाय तो फिर वह इस के अनिवार्य फल अनन्त चिन्ता, आत्म-पद भ्रष्टता से कैसे बच सकता है? इस लिए श्रवण मनन आदि उपायों के सम्पादन के लिए तितिक्षा पर आवश्यक है।

निन्दा स्तुति की चिन्ता भी परम लक्ष्य की सिद्धि में महान् दुर्विजेय प्रतिबन्धक है। इस को सहन करने की शक्ति के बिना मनुष्य मदारी लम्पट मनुष्यों के सकेत मात्र पर बन्दर के समान नाचता है। अथवा क्रोध तथा द्वेष के कारण झगड़ों की दलदल में अर-ग्यात फस जाता है। और अध्यात्म लक्ष्य तथा मार्ग का सर्वथा त्याग कर देता है।

जो व्यक्ति शरीर के साधारण दुःखों को भी सहन नहीं कर सकता, अधीर हो जाता है, वह इन्द्रियों तथा मन के महाबलशाली वेग को कैसे सहन कर सकेगा? जिन्हें सहन करना ही परम तप है। प्राणों का निरोध, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि परम तप, धैर्य-तितिक्षा के बिना नहीं हो सकते।

★

पुस्तक परिचय

(पृ० ६१ का शेष)

विषय पर पूर्ण अधिकार होने से विचार सुलझे हुए तथा प्रतिपादन की शैली स्पष्टतया सरल है। विषय को अधिक ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से लेखक ने पुस्तकों में स्थान-स्थान पर अनेक चित्र, चार्ट तथा तालिकाएं दी हैं। आयुर्वेद के कालेजों में और आयुर्वेद महा मडल की हिन्दी माध्यम से ली जाने वाली परीक्षाओं मे इन्हें पाठ्य पुस्तक बनाना चाहिए। इन पुस्तकों के प्रचार से जन साधारण में भोजन, रोग तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में फैली हुई नानाविध भ्रान्त धारणाओं का अन्त होगा। डाक्टर महोदय के इस प्रयत्न का हम स्वागत करते हैं। —रामेश बेदी।

★

साहित्य-परिचय

[प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आनी आवश्यक हैं। एक पुस्तक प्राप्त होने पर केवल प्राप्ति स्वीकार किया जा सकेगा। —सम्पादक]।

भोजन क्या, क्यों और कैसे ?—लेखक डॉ० सुरेन्द्रनाथ एम. बी बी. एस.। प्रकाशक अवध पब्लिशिंग हाउस लखनऊ। प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या २५६, सजिल्द, मूल्य ४)।

भोजन और उस की आवश्यकता, भोजन के मूल अवयव, खनिज और हमारा स्वास्थ्य, विटामिन, जल, वायु प्रकाश, पाचन संस्थान, पाचन क्रिया, भोजन का आत्मीकरण, पशुओं से प्राप्त खाद्य पदार्थ, धरती के अन्न, कन्द-मूल, फल व मेवे शाक-भाजी, मिर्च मसाले नशे ले पेय, भोजन के कुछ दोष मुख्यतया ये विषय हैं जिनका इस पुस्तक में प्रतिपादन किया गया है।

विटामिन और हीनता जनित रोग—लेखक और प्रकाशक वही। पृष्ठ संख्या १२८, मूल्य २)। प्राक्कथन लेखक श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित। विटामिन के नाम से आज का पठित समाज यद्यपि परिचित है परन्तु उसके ठीक-ठीक महत्व को नहीं जानता। हमारे दैनिक भोजनों में इनका समुचित स्थान होना चाहिए। पूर्ण स्वास्थ्य के लिए ही नहीं परन्तु जीवन-यापन के लिए भी इन की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। विटामिन की खोज कब और कैसे हुई यह बताते हुए लेखक ने अब तक मालूम किये गये विटामिनों का वर्णन किया है। इनका उद्गम, हमारे शरीर के लिए कितना परिमाण चाहिए, इनका कार्य, अभाव में हानि, इनका रोगों से सम्बन्ध, चिकित्सा में विटामिन का प्रयोग आदि बातें बड़ी सरलता से समझाई गई हैं। एक तालिका में मुख्य भोजन द्रव्यों में विद्यमान विटामिनों की मात्रा दिखाई गई है। विषय को स्पष्ट करने के लिए पुस्तक में अनेक चित्र दिये गये हैं।

गर्भवती स्त्री—लेखक तथा प्रकाशक वही। पृष्ठ संख्या ४६, मूल्य ।।)। गर्भावस्था में क्या खान-पान हो, आचार-विचार कैसा हो यह बताते हुए लेखक ने गर्भावस्था के कुछ रोगों यथा मलबन्ध, वमन, रक्ताल्पता, सिर दर्द, अनिद्रा, गर्भपात आदि का उल्लेख किया है। ये रोग क्यों होते हैं और इन से किस प्रकार बचे रह कर गर्भवती स्त्री अपना स्वास्थ्य उत्तम रखती हुई सुन्दर सन्तान पैदा कर सकती है, यह सब जानने के लिए इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए।

यौन मनोविकार—लेखक वही। प्रकाशक स्वास्थ्य सन्देश प्रकाशन, कालपी (उत्तर प्रदेश) दूसरा संस्करण, १९५२। पृष्ठ संख्या १०४, मूल्य ॥≈)। सामयिक पत्रों में प्रजनन सम्बन्धी रोगों की चमत्कारी दवाओं के विज्ञापनों को देखकर सामान्य व्यक्ति यह समझते हैं कि दुनिया में शायद इसी रोग द्वारा पीड़ित व्यक्ति सब से अधिक हैं और अनेक बार वे अपने आप को भी उन में से एक समझने लगते हैं। अधिक उदाहरणों में वे व्यक्ति वस्तुतः यौन विकारों से ग्रसित नहीं होते परन्तु बाजारू विज्ञापन और दवाइयां उनके मन तथा शरीर पर हावी होकर उन्हें अस्वस्थ कर देते हैं। यह कैसे होता है और इसे कैसे रोका जा सकता है—इस बात को लेखक ने अपने रोगियों के उदाहरण सहित बताया है। पथभ्रष्ट युवकों के लिए यह पुस्तक बहुत मूल्यवान् सलाह सिद्ध होगी।

सर्व साधारण के लिए उपयोगी इन पुस्तकों से लेखक ने हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया है। जन-साधारण को इस साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। लेखक एक सफल चिकित्सक है।

[शेष पृष्ठ ६० पर]

गुरुकुल-समाचार

ऋतु-वार्ता

वर्षा विदाई ले रही है और शारद-श्री पृथिवी पर अवतीर्ण हो रही है। प्रभात में थोड़ी थोड़ी ठंड पड़ने लगी है। गंग-नहर का पानी उजला हो चला है। ताल तलैयों के जल भी स्वच्छ और प्रसन्न हो चले हैं। वन-प्रांतर में काश-कुसुम वर्षा का वृद्धत्व सूचित कर रहे हैं। सायंकाल की निष्कम्प ऊष्मा और दिन का अप्रिय आतप ऋतु के वैशिष्ट्य को प्रकट करने लगा है। शेफालिका और शीतकालीन गुलाबों के कुंज महकने लगे हैं। ऋतु-सन्धि के कारण यत्र तत्र ज्वर, जुकाम और खांसी आदि के प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे हैं। तथापि ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य सन्तोषप्रद है।

अध्ययन

विद्यालय और महाविद्यालय की पढ़ाईयाँ पूरे वेग से चल रही हैं। दोनों विभागों की छमाही परीक्षाएँ अक्टूबर के दूसरे सप्ताह तक समाप्त हो जायेंगी। गुरुजन अपना अपना पाठ समाप्त करने में लगे हुए हैं।

नये उपाध्याय

बड़े आनन्द का विषय है कि इन्दौर मेडिकल कालेज के अवसर-प्राप्त उपाध्याय डॉक्टर हरिशंकर जी चतुर्वेदी ने कुछ समय के लिए अवैतनिक रूप में अपनी अमूल्य सेवाएँ गुरुकुल के आयुर्वेद महाविद्यालय को अर्पित की हैं। आप एम० बी० बी० एस, डी० पी० एच, डी० टी० एम० आदि अनेक देशी और विदेशी उपाधियों से विभूषित हैं तथा अध्यापन एवं चिकित्सा-कर्म के आप के अनुभव बहुत विशाल हैं। कुलवासी आप का सस्नेह स्वागत करते हैं।

मान्य अभ्यागत

अमेरिकन दूतावास की शिक्षाधिकारिणी श्रीमती रूथ राईट ने गुरुकुल की विशेष रूप से मुलाकात ली। उन्होंने गुरुकुल की स्थापना, उस की विशेषताएँ, कार्य का प्रकार, विस्तार आदि बातों का परिचय बड़ी अभिरुचि के साथ प्राप्त किया। कुल के कार्य और वातावरण से भी वे बहुत प्रभावित हुईं। शीतकाल में पुनः अपने अन्य मित्रों सहित आने की इच्छा प्रकट कर गई हैं।

मैसूर के भूतपूर्व मेयर श्री एन० केशव आयंगर (भारतीय संसद् के सदस्य) उस दिन गुरुकुल पधारे। आपने गुरुकुल-नगर की परिक्रमा कर के बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यहाँ की प्रसन्न-वदन बाल मंडली को निहार कर हृदय खिल उठता है। क्या ही अच्छा हो कि मैसूर में भी इसी नमूने की एक संस्था स्थापित हो जाय। निश्चय ही यह संस्था हमारे देश के लिए गौरवरूप है।'

विशेष व्याख्यान

आयुर्वेद-परिषद् के तत्वावधान में गुरुकुल के प्राणी-शास्त्र (जूलॉजी) के उपाध्याय श्री चम्पत-स्वरूप जी एम० एस-सी० ने लिंग-विनिश्चय (सेक्स डिटरमिनेशन) विषय पर एक ज्ञानप्रद व्याख्यान-माला प्रारम्भ कर रखी थी। उस में आपने वंशानुगत गुणों का किस प्रकार विभाजन और स्थिरीकरण होता है तथा किन अवस्थाओं में लिंग-परिवर्तन शक्य

होता है, इत्यादि सिद्धान्त विशेष रूप से समझाए। आप की व्याख्यानमाला बड़ी खोजपूर्ण और साथ ही मनोरञ्जक रही। सभापति का आसन श्री डा० सुन्दरलाल जी भण्डारी (अध्यक्ष आयुर्वेद महाविद्यालय) ने ग्रहण किया था।

दिवंगत मशरूवाला जी

सर्वोदय के सच्चे पथान्वेषी, तप.पूत साधक, और गाँधी जी की विचारधारा के अनन्य भाष्यकार श्री मशरूवाला जी के अवसान का समाचार कुल मे बड़े विस्मय और खेद के साथ सुना गया। वे गाँधी जी के पुराने सहकर्मी, विश्वस्त सेवक और सुधारक थे। गाँधी जी के शब्दों मे 'वे प्रकाशन के दूर रहने वाले परन्तु प्रकाश के वाहन थे।' उन की लेखनी मे कमाल का संयम था। उनका चिन्तन मूलगामी था। गाँधी जी के बलिदान के पश्चात् वे ही इस योग्य माने गए कि उन्हे 'हरिजन' पत्रों का सम्पादक बनाया जाय। समस्त कुलवासी उन की मूक साधना और सेवाओं के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उन के आत्मीयजनों और विशाल मित्र मण्डल के साथ अपनी समवेदना प्रकट करते हैं।

स्वर्गीय सुरजनसिंह जी

बड़े खेद का विषय है कि गुरुकुलीय पोस्ट आफिस के पुराने और बुजुर्ग पोस्टमैन श्री सुरजनसिंह जी का गत १ सितम्बर को चार पाच दिन की बीमारी के पश्चात् देहावसान हो गया है। स्वर्गीय सुरजनसिंह जी नवीन भूमि में गुरुकुल की पुनः स्थापना के दिन से (पिछले बाईस वर्षों से) गुरुकुल की पोस्ट-आफिस में सेवा करते आ रहे थे। गुरुकुल का बच्चा-बच्चा उन से परिचित और उन के प्यार दुलार का पात्र रहा है। बड़े छोटे सभी से उन का व्यवहार भद्रतापूर्ण और धैर्ययुक्त था। उन की पाबन्दी और कार्यनिष्ठा प्रशंसनीय थी। पोस्ट-आफिस की बारी पर हर किसी को उन से काम पड़ता था। कई बार तो एक-बारगी बहुत से व्यक्ति अपने अपने कार्य की सिद्धि के लिए उन से पृच्छा करते थे। ऐसे अवसरों पर भी उन को किसी ने उद्विग्न और विकल होते हुए नहीं पाया। वे सदा धीरता, नम्रता और मिष्टता से सब से पेश आते थे। कुलवासी आज उन के गुणों को प्रेम से याद कर रहे हैं। भगवान् उन की आत्मा को शान्ति प्रदान करें। उन के परिवार से कुलवासी अपनी समवेदना प्रकट करते हैं।

संग्रहालय

अगस्त में गुरुकुल संग्रहालय से ३८६२ व्यक्तियों ने लाभ उठाया जिन की संख्या प्रांतवार इस प्रकार है—उत्तर प्रदेश १०३०, पञ्जाब १७८०, दिल्ली ५३६, मध्यप्रदेश ४०, बिहार १३०, बंगाल १७८, मद्रास ४२, बम्बई २३२, राजपूताना ५८ मध्यभारत १६, सौराष्ट्र २०।

संग्रहालय की प्रगति के सम्बन्ध में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने इस के अध्यक्ष को लिखा है—आप चलते नहीं, दौड़ते हैं। भारतीय-कला के सुप्रसिद्ध मर्मज्ञ, कलकत्ता विश्वविद्यालय के ललित-कला-विभाग भूतपूर्व के उपाध्याय

तथा भारतीय-कला पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के प्रणेता श्री अर्धेन्द्रकुमार गांगुली की इस संग्रहालय के सम्बन्ध में शुभ सम्मति यह है कि शिक्षा की दृष्टि से यह संग्रहालय बहुत महत्वपूर्ण है।

हरिद्वार के सब से प्राचीन मन्दिर माया देवी के ऊपर से उतरे सिन्दूर के दो-ढाई इञ्च मोटे खण्ड श्री रामेश्वर बेदी के प्रयत्न से जूना अखाड़े के महन्त श्री बैजनाथ गिरी से प्राप्त हुए हैं। मूर्तियों पर सिन्दूर का लेप कभी-कभी किया जाता है। इस लेप की तह भी बहुत पतली रहती है। एक तह पर दूसरी तह चढ़ते रहने से अब इस खण्ड में हजारों तहें नजर आती हैं। अनुमान होता है कि सिन्दूर को इतना मोटा रूप धारण करने में हज़ार साल से अधिक समय लग गया होगा इस सिन्दूर की वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा परीक्षा की जा रही है और परतों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। माइक्रोस्कोप से सेक्शन लेकर उस की माइक्रोस्कोपिक स्लाइड (आणुवीक्षिक फलक) तैयार की जायगी और उस से माइक्रोफोटोग्राफ लिया जायगा। आशा है कि फोटोग्राफ के परिवर्द्धित रूप में परतें इतनी स्पष्ट और पृथक्-पृथक् दीखने लगेंगी कि उन की ठीक ठीक गणना की जा सके।

★